यज्ञतत्त्व

ज्ञेषु देवाः तिष्ठन्ति यज्ञे सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
ज्ञेन ध्रियते पृथ्वी यज्ञः तारयति प्रजाः ॥
न्नेन भूता जीवन्ति पर्जन्यादन्नसम्भवः ।
न्यो जायते यज्ञात् सर्वं यज्ञमयं ततः ।

श्रीकृष्ण संघ वाराणसी की ओर से
ह्मचारी सदानन्द द्वारा प्रकाशित।

प्रकाशक का निवेदन

जिनका परमाराध्य स्वामीजी से घनिष्ठ परिचय था वे जानते हैं कि स्वामीजी बाल्यावस्था से ही साधनभजन में निविष्ट रहते थे। बालब्रह्मचारी, कौलिज शिक्षा प्राप्त करके युवावस्था में ही संन्यास लेकर उन्होंने अपनी जीवनव्यापी साधना तथा कठोर तपस्या द्वारा उपलब्ध अनुभूतियों एवं सुचिन्तित धारणाओं को आधुनिक समय के असाम्प्रदायिक भावधारा से चलनेवाले धर्मपिपासुओं के लिए एक अनाडम्बर कालोपयोगी साधन प्रणाली के रूप में प्रचार किया। इस सम्बन्ध में उन्होंने 'पूजा' और 'यज्ञ' नामक दो ग्रन्थ लिखे। 'पूजा' नामक ग्रन्थ [हिन्दी—'पूजातत्त्व'] स्वामीजी की सदेहावस्था में महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथ कविराज एम० ए०, डी० लिट० की सुयोग्य सम्पादना में प्रकाशित हुआ था। सम्प्रति 'यज्ञ' नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। मूल ग्रन्थ बंगला भाषा में है। यह 'यज्ञतत्त्व' मूल बंगला 'यज्ञ' का संक्षिप्त अनुवाद है। स्वामीजी कहते थे—"उनकी पूजा प्रणाली एवं यज्ञ विधि कोई नई वस्तु नहीं है। यह प्राचीन आर्य हिन्दुओं की सत्यपूर्ण भावधारा को अनुसरण करके रची गयी है, केवल प्राचीन धारा को यथासम्भव वर्तमान समय के उपयोगी बना दिया गया है" [Old wine in new bottles].

हमारे हिन्दी भाषी मित्रों और माताओं का विशेष अनुरोध था कि 'यज्ञ' नामक पुस्तक का भी हिन्दी में अनुवाद किया जाय। किन्तु नाना कारणों से सम्पूर्ण ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद करने की व्यवस्था न हो सकी। इसलिए यह संक्षिप्त अनुवाद अभी प्रकाशित किया जा रहा है। यदि इस पुस्तक का लोगों ने आदर किया तो बाद को एक बृहत् संस्करण निकालने की चेष्टा की जायगी।

विदित हो कि संक्षेप केवल ग्रन्थ के प्रथम भाग अर्थात् तत्त्वों के विवरण में किया गया है। ग्रन्थ के द्वितीय भाग अर्थात् हवन की अनुष्ठान विधि में कोई संक्षेप नहीं किया गया। इसलिए इस पुस्तक के अनुसार हवन करने में कोई त्रुटि नहीं होगी।

सदानन्द ब्रह्मचारी

———

भूमिका

प्राचीन आर्य हिन्दु यज्ञ को सब प्रकार के शुभ फल प्राप्त करने का श्रेष्ठ उपाय मानते थे। इसके उपरान्त देश में जब कभी अतिवृष्टि, अनावृष्टि, महामारी, राष्ट्र-विपल्व अथवा और किसी प्रकार के अशुभ-अशान्ति का प्रादुर्भाव होता तो सब मिलकर प्रार्थना एवं यज्ञ द्वारा उसके निवारण करने की चेष्टा करते थे। व्यक्तिगत जीवन में दशविध संस्कारों में होम क्रिया की प्रधानता थी एवं गृहस्थ के घर में प्रतिदिन पंचमहायज्ञ करने की व्यवस्था थी।

काल के प्रभाव से यज्ञ के जीवनगत भाव का ह्रास होने लगा और अन्त में यह केवल एक बाह्याचार उत्सव-अनुष्ठान के रूप में रह गया। किन्तु यज्ञ का प्रकृत स्वरूप क्या है और आज भी यज्ञ किस प्रकार सर्वसाधारण के लिये उपयोगी और फलप्रद हो सकता है, इस तत्त्व के सम्बन्ध में पूज्यपाद स्वामीजी अपने गुरुदेव के आदेशानुसार अपनी अनुभूतियों को लिखने के लिए बाध्य हुए। वे लिखते हैं—"यज्ञ की आगन्तुक मलिनता को दूर कर, यज्ञ का प्रकृत स्वरूप उपलब्ध कर, समस्त कर्म को यज्ञ में परिणत किया जा सकता है"।

यह जो विराट विश्वचक्र निरन्तर घूम रहा है इसके अन्तराल में यज्ञ का आदर्श प्रतिष्ठित है। एक दूसरे की सेवा ही 'यज्ञ' है। व्यष्टि अपने-अपने अधिकार और सम्पद से समष्टि की सेवा करे और समष्टि अपनी सम्पद से व्यष्टि का अभाव पूरण करें—यही ब्रह्मचक्र है। अपने लिए चिन्ता न करके दूसरों के लिए चिन्ता करने से प्रकृति के गहन भण्डार से जो प्रतिदान आता है उससे केवल अपना अभाव ही दूर नहीं होता बल्कि स्वभावान्तर भी हो जाता

है। इसी का नाम है जगच्चक्र का अनुवर्तन (गीता ३।१०-१६)।

श्रीस्वामीजी लिखते हैं—"मैं आन्तरिक हृदय से विश्वास करता हूँ कि सब बन्धु-बान्धवों को भगवद्‌विग्रह में, समस्त कर्म को यज्ञ में परिणत किया जा सकता है। जीव-जगत ब्रह्म के सिवाय और कुछ नहीं है। ऋषियों के जीवन का सारतत्त्व था सर्वत्र ब्रह्मोपलब्धि; समस्त कर्म को यज्ञ में, भगवदाराधना में परिणत करना उनके कर्म, ज्ञान और भक्ति काण्ड का प्रधान उद्देश्य था। निष्काम कर्म, भगवद्-आराधना—यज्ञ का नामान्तर हैं। किस प्रकार समस्त कर्म को यज्ञ में परिणत किया जा सकता है, अपने बन्धुओं को यह तत्त्व समझा देना मैं अपने जीवन का प्रधान कर्तव्य मानता हूँ"।

साधन करते-करते मनुष्य का चित्त जब शुद्ध हो जाता है तब उसके भीतर कामना, वासना, आसक्ति, सुखस्पृहा, प्रतिष्ठामोह, नहीं रह जाते। तब वह भगवान के हाथ का एक यंत्र हो जाता है। जिस ताल या सुर में भगवान उसको बजाएँ उसी ताल सुर में वह बजने लगता है। तब उसका कर्म भगवान का कर्म हो जाता है--भगवान का कर्म ही प्रकृत यज्ञ है।......भगवान स्वयं, देवता, ग्रह, उपग्रह, चन्द्र, सूर्य, तारागण, वृक्ष-लता, वनस्पति, इत्यादि सब दिन-रात यज्ञ में लगे हुए हैं। हमारे श्वास-प्रश्वास, इन्द्रियों की क्रिया, रक्त की गति, भावना-चिन्ता में भी मैं सुन्दर रूप में वैदिक यज्ञ का आभास देखता हूँ। मैं प्रत्येक जीव को, प्रत्येक पदार्थ को यज्ञ की सजीव मूर्ति, जीवित यज्ञशाला मानने को बाध्य हुआ हूँ। जब शिव का कर्म ही यज्ञ है और जीव के कर्म को शिव के कर्म में परिणत करना ही जीवन का लक्ष्य है तो यज्ञ के महातम्य की वर्णना करना मेरे लिए एकान्त स्वाभाविक है। कौन हमारी आँखों के भीतर से देखते है, कानों से सुनते हैं, मन से चिन्ता करते हैं, चित्त से आनन्द लेते है—स्वरूप में

प्रतिष्ठित, प्रकृत द्रष्टा होकर यह तत्त्व उपलब्ध करना भावनात्मक यज्ञ के अन्तर्गत है।"

यही सब तत्त्व जो स्वामीजी ने साधना द्वारा उपलब्ध किये 'यज्ञ' नामक पुस्तक में वर्णित हैं। पूज्यपाद डॉ० गोपीनाथ कविराज इस संबन्ध में लिखते हैं—"स्वामीजी ने अपनी आन्तरिक अनुभूतियों को सरल भाषा में प्रकाशित किया है। जिस दृष्टि से उन्होंने यज्ञ को देखा वह मूलतः आर्ष दृष्टि है। यह दृष्टि सरल होने पर भी महन् फलदायक है। इससे व्यक्ति और समाज के एवं विश्व और विश्वातीत के सब विरोधों का समन्वय हो जाता है तथा जगत की सब समस्यायें, परिवार और देश के—बाह्य जगत एवं भाव जगत के—सब प्रश्न सुन्दर रूप में मीमांसित हो जाते हैं।"

———

—: समर्पण :—

जो इस ग्रन्थ के मूल रचयिता हैं एवं जिनकी प्रेरणा से यह हिन्दी अनुवाद हुआ है उन्हीं परमाराध्य श्रीस्वामीजी के चरणारविन्द में यह पुस्तक समर्पण करता हूँ।

हमारी आन्तरिक प्रार्थना है कि इस ग्रन्थ मे प्रकृत लोक कल्याण हो।

मंगलाचरण

जो हमारी देह और देह के यंत्रों के रचयिता एवं चालक हैं, जो हमारी देह में अधिष्ठित हुए हमारे इन्द्रिय-प्राण-मन-बुद्धि आदि को चला रहे हैं, उनसे हमारी विनीत प्रार्थना है कि 'आविरावीर्म एधि'—हे स्वप्रकाश, तुम हमारे सब तत्त्वों मे अपने स्वरूप को प्रकाशित करो। 'वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितम्'—हमारे इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि को अवलम्ब कर तुम यज्ञ कार्य सुसम्पन्न करो। 'पूर्णाभवत्वनुदिनं मयि ते शुभेच्छा'—हमारे जीवन में तुम्हारी इच्छा पूर्ण सफलता लाभ करे अर्थात प्रतिष्ठा मोह, स्वार्थ, अहंकारादि संस्कार तुम्हारी इच्छा पूरण में बाधा न दें।

कृपया यह अशुद्धियाँ ठीक कर लें।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
Inner Cover		P—411	P—481
(iv)	१३	खाली जगह	इत्यादि
(२)	७	ब्रह्मेप्त्यवधारय	ब्रह्मेत्यवधारय
(११)	१२	ओर	औंर
(१३)	१४	अग	अंग
(१६)	२०	हता	होता
(२[illegible])	१९	कमबन्धनः	कर्मबन्धनः
(२२)	२०	जव	जीव
(३३)	२३	श्वास-श्वास	श्वास-प्रश्वास
(३३)	२४	पश्यती	पश्यन्ती
(४७)	६	ह	हो
(५०)	१२	अपित	अर्पित

हवन विधि

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
(1)	11	का	की
(15)	5	प्राणाघ्यः	प्राणार्घ्यः
(16)	1	'है' के बाद '।' लगाओ	
(16)	12	म	में
(17)	4	वनस्पतिरसा	वनस्पतिरसो
(17)	5	आघ्रेय	आघ्रेयः
(20)	6	विद्यत	विद्यते
(23)	7	सवधा	सर्वधी
(26)	last line	विश्वतोमुमख	विश्वतोमुखम्

(33)	1	धनप्राप्त	धनप्राप्ति
(38)	11	अभावभुक्त	अभावमुक्त
(40)	14	delete 'होता'	
(42)	7	त्व	त्वम्
(44)	13	मतत्र	मातत्र
(51)	श्लोक नं० ९८	पृथिव्या	पृथिव्याम
(51)	,,	अदित्यै	आदित्यै
(51)	,,	पित्रौः	पित्रोः
(52)	६	जी	जो
(52)	श्लोक नं० १००	जुहोनि	जुहोमि
(61)	श्लोक नं० ११४	यमनुप्रायन्ति	यमनुप्रयान्ति
(73)	श्लोक नं० १३५	निरमयाः	निरामयाः

———

यज्ञतत्त्व

(१)

यज्ञ—भगवत् साधना

हिन्दु शास्त्र में भगवान एक बड़ा ही रहस्यपूर्ण शब्द है। साधारणतः भगवान की दो अवस्थाएँ बतायी गयी हैं—निर्गुण (Unmanifested) और सगुण (Manifested)। निर्गुण वाक्य-मन के अगोचर हैं ; इसलिये चिन्ता-धारणा एवं साधन-भजन के भी अतीत हैं। किन्तु सगुण का साधन करते-करते निर्गुण भी किसी मात्रा में धारणा के विषयीभूत हो जाते हैं। जीव-जगत सगुण भगवान की सजीव मूर्ति है। वे विश्वरूप हैं—विश्व के अन्तरात्मा हैं। उनका एक और नाम परमात्मा है ; आत्मा की परम—व्यापकता में परम एवं गम्भीरता मे परम—सर्वश्रेष्ठ अवस्था। जीव-जगत उन्हीं की लीला-स्वीकृत विग्रह है। वे विश्व को रचकर, विश्वरूप में परिणत अथवा विवर्तित होकर, अपने-आपको छिपाकर लीलारस विस्तार कर रहे हैं। इस छिपे हुए चोर को ढूँढ़ निकालने का एकमात्र उपाय है उनके सृष्ट जीवों की सेवा करना, प्रकृत कल्याण करना। आत्मा को, परमात्मा को देखना-समझना कठिन है ; देह द्वारा वे प्रकाशित हैं ; इसलिए देह को अवलम्ब करके उनकी धारणा करनी होगी। अतः जीव की सेवा द्वारा शिव की सेवा का अधिकार लाभ करना ही श्रेष्ठ साधना है। हिन्दुओं के

कोश में 'पर' शब्द नहीं है—सब अपने हैं। जीव सेवा उनके लिए अपने परमात्मा की सेवा है।

भगवान माने ही हैं जीव की पूर्ण परिणत अवस्था—जिसको जान लेने पर और कुछ जानना बाकी नहीं रहता, जिसको पाकर और कुछ प्राप्त करने को नहीं रह जाता, जो हो जाने पर और कुछ होना बाकी नहीं रहता—"यद् दृष्ट्वा नापरं दृश्यं यद् भूत्वा न पुनर्भवः। यद् ज्ञात्वा नापरं ज्ञानं तद् ब्रह्मेत्यवधारय॥" मनुष्य-मात्र प्रकट या अप्रकट रूप में भगवान को जानने—प्राप्त करने की चेष्टा कर रहा है। साधन-भजन का उद्देश्य है सब इन्द्रियों को पूर्ण विकसित कर ज्ञान, प्रेम और आनन्द से पूर्णतः विभूषित होना अर्थात् सत्ता, चैतन्य और आनन्द की पूर्णता लाभ करना। ऐसा कोई मनुष्य नहीं जो जीवित नहीं रहना चाहता, ज्ञान लाभ नहीं करना चाहता, सुख से नहीं रहना चाहता।

अन्य प्रकार से विचार करने पर मालूम होता है कि भगवान सर्वश्रेष्ठ, सर्वशक्तिमान, अनन्त शक्ति के आधाररूपी Power House हैं। उनके साथ योग रहने से हमारी आँख देखती है, कान सुनता है, मन चिन्तन करता है, सब इन्द्रियाँ अपना-अपना काम करती हैं। हमारी सब इन्द्रियोंके भीतर दिव्य शक्ति का पूर्ण विकास हुए बिना पूर्णस्वरूप भगवान का पूर्णत्व समझना असम्भव है। याद रखना चाहिए कि आदर्श नर अर्जुन भगवत्कृपा से दिव्य चक्षु लाभ करके भी भगवान का पूर्णरूप धारण करने में समर्थ नहीं हुए थे। साधना, आराधना, उपासना, यज्ञ, आदि का

मुख्य उद्देश्य है अपने आपको सब प्रकार से पूर्ण बनाकर पूर्ण-स्वरूप भगवान को पूर्णरूपेण आस्वाद करना।

सारांश— भगवान विश्वरूप हैं। हिन्दुओं की साधना, पूजा, यज्ञ का लक्ष्य है जीव की सेवा द्वारा शिव की सेवा करना। जीव शिव की सजीव मूर्ति है।

(२)

व्यष्टि-समष्टि तत्व

जो भावना पृथक्त्व की ओर, बहु की ओर ले जाय—जो बहु-भावापन्न है उसका नाम 'व्यष्टि' है। और जो समूह की ओर, सर्व-व्यापी भाव की ओर, शान्त-अद्वैत तत्त्व की ओर ले जाय वह 'समष्टि' है। 'एक' ही बहु हैं और 'बहु' भी मूलतः एक हैं—यह उपलब्धि करना ही 'व्यष्टि-समष्टि हवन' का उद्देश्य है।

व्यष्टि जितना समष्टि भावापन्न होगा अर्थात साधक जितना ईश्वर के निकटवर्ती रहेगा उतना ही ईश्वर का स्वरूप, ईश्वर का भाव, ईश्वर का अद्वैत तत्त्व, ईश्वर का प्रेम उसके भीतर से प्रकाशित होगा। व्यष्टि के भीतर समष्टि बीज रूप में निहित है; इसलिए व्यष्टि को पूर्णता प्राप्त करने के लिए समष्टि भावापन्न होना ही पड़ेगा। साधना की परिपक्वावस्था में अपने आत्मा के व्यापकत्व का ज्ञान हो जाने पर सर्वजीव की आत्मीय भाव में उपलब्धि होती है। उस अवस्था में अपने-पराये का भेद नहीं रहता, "अतो मम जगत् सर्वं अथवा न च किञ्चन"। प्राचीन

ऋषियों ने आत्मा के सर्वव्यापी सर्वगत भाव की उपलब्धि की थी। नेति-नेति साधना के फलस्वरूप आत्मा जब स्वरूप-प्रतिष्ठ होकर अपना सर्वगत भाव उपलब्धि करता है तब उसके निकट व्यष्टि-समष्टि जनित किसी प्रकार का भेदभाव नहीं रह जाता। तब सबके ऐश्वर्य में अपना ऐश्वर्य, सब की शान्ति में अपनी शान्ति, सबके आनन्द में अपना आनन्द प्रतीत होता है। इस भाव की उपलब्धि के लिए साधन-भजन की आवश्यकता है।

व्यष्टि-समष्टि तत्त्व के प्रकृत स्वरूप और संबन्ध को न जानने के कारण ही आजकल जगत में इतनी अशान्ति है। समष्टि के प्रकृत स्वरूप को न जानने के कारण हम समस्त मानव जाति के हित के बदले, अपने-आपको एक क्षुद्र जाति अथवा देश में सीमाबद्ध करके, दूसरी जाति अथवा देश का अनिष्ट करने लगते हैं। आदर्श व्यक्ति समस्त का प्रतिनिधि है। उसका रूप बताया गया है समस्त देवताओं और समस्त जीवों के सौन्दर्य-माधुर्य के सारांश से बना हुआ। उसकी शक्ति है सब देवताओं की शक्ति का समूह। अपने साथ एकमत न होने पर भी वह कभी किसी का बहिष्कार नहीं कर सकता। आदर्श पुरुष में स्वार्थ-परार्थ का भेद सम्पूर्णतः तिरोहित हो जाता है। इस प्रकार के आदर्श जीवन में ही हमें भगवान की समष्टिगत मूर्ति का आभास मिलता है। यह समष्टि किसी व्यष्टि का प्रतिबन्धक नहीं है—सब की उन्नति में सहायक है। हमारी दृष्टि अगर इस ओर होती तो आजकल के समाजतंत्र-वाद, साम्यवाद, राजतंत्रवाद, आदि का झगड़ा देखने में न

आता। समष्टि में व्यष्टि को आहुति दे देना ही व्यष्टि-समष्टि हवन है।

प्राचीन आर्यों का पूजा तत्त्व, साधन रहस्य इसी समष्टि तत्त्व के अन्तर्गत है। उपलब्ध समष्टि तत्त्व ही था उनका इष्ट, प्रार्थित आराध्य वस्तु अथवा उपास्य ईश्वर। ये ही थे उनके "सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म आनन्दरूपं अमृतम्"। गीता में इसी को 'पुरुषोत्तम', चण्डी में 'एकैकस्था नारी' कहा गया है। बुद्ध, ईसा, चैतन्य, आदि इन्हीं पुरुषोत्तम के अवतार थे; इसीलिये समष्टि के कल्याण के लिये पागल की तरह इधर-उधर घूमते फिरते थे। वर्तमान समय में हम मानने को बाध्य हैं कि जो जाति या देश समष्टि के हितार्थ जितना त्याग कर सकता है उतना ही वह उन्नत होगा। त्याग की महिमा भूल जाने के कारण ही हम आज पराधीन और पर-पदानत हैं। पुरुषोत्तम ही सब प्रकार से पूर्णता-प्राप्त आदर्श हैं। सब की समृद्धि में उनकी समृद्धि, सबके ज्ञान में उनका ज्ञान, सब की शान्ति में उनकी शान्ति है। "नमस्ते जगद्व्यापिके विश्वमूर्ते," "विश्वरूप विश्वनाथ विश्वजीव विग्रहम्" कहकर उनको प्रणाम किया जाता था। "वासुदेवः सर्वमिति", "नित्य सर्वगत" कहकर उनकी अनुभूति होती थी। "ममात्मा सर्वभूतात्मा" कहकर सब जीवों की सेवा द्वारा उनकी सेवा की जाती थी। "यत्र नारी तत्र गौरी—यत्र जीव तत्र शिव" कैसे ऊँचे दर्जे के आदर्श थे। आर्य जाति के लिए जीव की सेवा ही शिव की सेवा, भगवान की पूजा, जीवन का लक्ष्य था।

(३)

शब्द-रहस्य

In the beginning it was Word, the Word was with God and the Word was God.

—*Bible*

आर्य ऋषियों ने सब तत्त्वों के पीछे एक महान सत्य की उपलब्धि की थी। यह जीव-जगत उसी महान 'एक' का विवर्तन या परिणति है। वे महान एकस्वरूप होते हुए भी कारण-सूक्ष्म-स्थूल, आध्यात्मिक-आधिदैविक-आधिभौतिक, इन त्रिविध तत्त्वों में त्रिविधरूप, त्रिविध नाम धारण किये हुए हैं। उन मूलस्वरूप एकत्व को हम साधारणतः 'परा' नाम से कहते हैं। वे कारण अवस्था में 'पश्यन्ती', सूक्ष्म शरीर में (मानसिक जगत में) 'मध्यमा' और स्थूल जगत में 'वैखरी' नाम से परिचित हैं। इसलिए सभी शब्द परावस्था में ब्रह्म के द्योतक हैं, पश्यन्ती अवस्था में जीवात्मा, मध्यमा अवस्था में मानसिक भाव एवं वैखरी अवस्था में स्थूल भाव प्रकाशित करते हैं। अग्नि परावस्था में स्वयं 'ब्रह्म' हैं, पश्यन्ती अवस्था में 'देवस्य भर्ग'—'ब्रह्मज्योति'—'ब्रह्मज्ञान', मध्यमा अवस्था में 'प्राण'—'वैश्वानर' और वैखरी अथवा स्थूल अवस्था में साधारण 'आग'।

यज्ञ तत्त्व समझने के लिए भगवत्तत्त्व, अग्नितत्त्व, इड़ा और सोमतत्त्व समझ लेना आवश्यक है।

इड़ा—(१) वाग्देवी, शब्द ब्रह्म (Word of God), ब्रह्म-ज्ञान (२) कम्भृण ऋषि की पुत्री, मनु की कन्या (३) ईसा का रक्तमाँस (यजमान के पशु का प्रतीक)—पुरोडाश। "He that eateth My Flesh and drinketh My Blood dwelleth in Me and I in him"—Christ।

सोम—(१) ब्रह्मज्ञान (२) सहस्रार विगलित सुधा (३) एक प्रकार की मदिरा।

जैसे शब्द तत्त्व में परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरी चार अवस्थाएँ हैं इसी प्रकार स्पर्श, रूप, रस, गन्ध में भी समझना चाहिए।

(४)

वेद

भगवान एकाधार में विधान और विधाता हैं, वेद भगवद् विधान हैं—भगवान की चिद्विभूति हैं अर्थात् सच्चिदानन्द के ज्ञान की महिमा हैं। सुतरां विधाता जैसे नित्य हैं उनका विधान भी उसी प्रकार नित्य है। वेद को नित्य और अपौरुषेय स्वीकार किया गया है। वेद का मूल ग्रन्थ है प्रकृति। प्रकृति के द्वारा ही भगवान अपने आपको प्रकाशित कर रहे हैं। विधाता ने प्रकृति के कलेवर में अपने हाथ से वेद लिखकर रख दिए हैं। जिनके दिव्य चक्षु हैं वे वेद देखते हैं, जिनके पास दिव्य चित्त हैं वे वेद समझ सकते हैं।

प्राचीन ऋषियों ने अपने साधन बल से भगवान के हाथ से

लिखे हुए वेदमंत्रों को देखा। उन्होंने जिन वेदमंत्रों का आविष्कार किया शिष्य परम्परा के द्वारा उनका प्रचार होने लगा। परवर्ती काल में अनेक ऋषिकल्प महात्माओं ने कुछ मंत्र आविष्कार किये और अपने अपने सम्प्रदाय के माध्यम से उनका प्रचार करने लगे। इस प्रकार मंत्रों की संख्या बढ़ने लगी और बाद में ऐसा समय आ गया कि मंत्रों में शृंखला और सामंजस्य का अभाव दीखने लगा। तब भगवान वेदव्यास ने मंत्रों को संग्रह करके श्रेणीबद्ध किया। अति प्राचीन विद्या का नाम 'वेद' था।

वेद साधारणतः दो भागों में विभक्त थे—मंत्र और ब्राह्मण। ब्राह्मण ग्रन्थ यज्ञतत्त्व की वर्णना से परिपूर्ण हैं। मंत्रात्मक वेदविद्या का साधारण नाम था 'त्रयी'—ऋक्, यजुः और साम। मंत्र तीन भागों में विभक्त होने पर भी संहिता चार थीं। ऋक् मंत्रों के संग्रह का नाम था 'ऋक् संहिता', यज्ञ में व्यवहृत मंत्रों का नाम 'यजुः-संहिता' और यज्ञ का समयकाल और संगीत के संग्रह का नाम 'सामसंहिता' था। इसके अलावा और कुछ मंत्र थे जो शान्ति-स्वस्त्ययन आदि में व्यवहार होते थे उन सब का नाम 'अथर्व-संहिता' था।

वेद विश्व-जननी हैं। उनका सब सन्तानों के ऊपर समान प्रेम है। वेद में किसी का बहिष्कार नहीं किया गया। वेद पिशाच, नर और देवता सभी के कल्याण साधन में तत्पर हैं। वेद पिशाच तक को अति सुन्दरता से नरभूमि में से होते हुए देवभूमि तक पहुँचा देते हैं—यह देखकर विस्मय होता है। वेद भोगी को भोग के

उपकरण और कौशल, रोगी को स्वास्थ्य लाभ करने के उपाय, योगी को योग की प्रणाली—सिद्धि का प्रलोभन, ज्ञानी को ज्ञान का पथ, प्रेमी को प्रेमतत्त्व, भक्त को भक्ति रहस्य बताकर मुग्ध करते हैं। जो केवल लौकिक सुख चाहते हैं उनको रुचिकर भोग्य पदार्थों के द्वारा अज्ञात रूप से प्रकृत आनन्द के पथ में ले जाने की चेष्टा करते हैं। ऐसे लोगो के लिए द्रव्यात्मक यज्ञ निर्धारित किया गया है। द्रव्यों के शोधन की आहुति के मंत्रों मे ऐसा भाव रखा गया है कि साधक अपने आप क्रमशः भावनात्मक—ज्ञानात्मक यज्ञ की ओर आकृष्ट होता है। हम कैसे एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं, एक का कल्याण किस प्रकार दूसरे के कल्याण पर निर्भर करता है, सब को सुखी करना हमारे अपने सुख के लिए कितना जरूरी है इत्यादि भाव बताकर, वेदों में अति सुन्दरता से मैत्री स्थापन करने की व्यवस्था की गयी है। आहुति के मंत्रों में जो गूढ़ अर्थ निहित है वह अज्ञात रूप से हमको भावनात्मक यज्ञ की ओर ले जाता है।

(१) पहले बताया गया कि समस्त लौकिक सुख देवताओं की कृपा पर निर्भर करता है; इसके फलस्वरूप हम देवताओं को सन्तुष्ट करने के लिए लुब्ध हो जाते हैं।

(२) देवताओं का वासस्थान स्वर्ग है। वहाँ सब प्रकार के भोग की सामग्री है। वहाँ जाया जा सकता है और अतुल ऐश्वर्य भोग किया जा सकता है। इसके फलस्वरूप साधारण मनुष्य स्वर्ग जाने को लुब्ध होता है।

(३) प्रत्येक देवता के भीतर भी दो तत्त्व हैं। बाहर के तत्त्व की अपेक्षा भीतर का तत्त्व अधिक रमणीय और अधिक नित्य है। जितना उनका सान्निध्य लाभ किया जाय उतनी ही उनके स्वरूप की ओर दृष्टि आकृष्ट होती है और उनके पास जाने की इच्छा बलवती हो जाती है।

(४) सब तत्त्व, सब पदार्थ उसी 'तत्' पदार्थ (परमपद) के विभिन्न अनुभवयोग्य विकास हैं। इसीलिए उनके भीतर का निहित 'तत्' पदार्थ धीरे-धीरे मनुष्य के मन को अपनी ओर खींच लेता है।

वेदों में देवतातत्त्व और यज्ञतत्त्व का विस्तृत विवेचन है। जो केवल बाहरी दृष्टि से वेद पढ़ते हैं वे सकाम प्रार्थना से परिपूर्ण समझते हैं किन्तु जो निर्दिष्ट प्रणाली से अध्ययन करते हैं, जो वेदों की साधन प्रणाली से परिचित हैं, वे वेदों की ओर आकृष्ट हुए बिना नहीं रह सकते।

वैदिक युग के ऋषि और उनके शिष्य शिशु के भाँति सरल, स्वभाव में स्थित और नित्य तृप्त थे। उनकी आवश्यकताएँ बहुत कम थीं। वे जानते थे कि भगवान किसी का अभाव अपूर्ण नहीं रखते। जब वे देखते कि भगवान ने उनके बिना मांगे ही उनके सब अभाव पूर्ण करने का प्रबन्ध कर दिया, मांगने की जरूरत ही नहीं रखी, तो कृतज्ञता के भार से उनका मस्तक भगवान के आगे नत रहता था। इस निर्भरता के फलस्वरूप प्रकृत निष्काम भाव अपने आप जाग्रत हो जाता था। इसीलिए वेद में सकाम

भाव देखकर भी हमें भय नहीं होता वरं वेद की उच्चाङ्ग शिक्षा में भावनात्मक निष्काम यज्ञ का आभास पाकर असीम तृप्ति लाभ होती है। वेद के सम्बन्ध में लोगों की गलत धारणा को दूरकर, यज्ञ का प्रकृत स्वरूप समझाकर, सब को यज्ञ की ओर आकृष्ट करना ही हमारा उद्देश्य है। लेकिन देश-काल पात्र में समयानुसार परिवर्तन हो जाने के कारण हम इस तरह यज्ञ का अनुष्ठान करना चाहते हैं जिसमें किसी प्रकार का उद्वेग न हो और ज्यादा समय भी न लगे।

याद रखना चाहिए कि जगत विश्वनाथ का मन्दिर है, जीव वेष धारण किया हुआ शिव है। इनकी सेवा द्वारा हमारी पूजा क्रमशः भगवत्-प्रेम में परिणत हो जायगी। वेद की श्रुतियाँ कर्मात्मक और ज्ञानात्मक हैं। वेद हमको कर्म के द्वारा ज्ञान की ओर, द्रव्यात्मक यज्ञ के द्वारा भावनात्मक की ओर, भगवत् कार्य के द्वारा भगवत्-प्रेम की ओर, जगत्-व्यापार के द्वारा जगन्नाथ के पास पहुँचा देते हैं। याद रखना चाहिए कि वेद का सारांश उपनिषदों में है जिनसे कि हिन्दुओं के षड्दर्शन, गीता, तन्त्रादि आविर्भूत हुए हैं।

(५)

ऋषि, छन्द, देवता और विनियोग।

ऋषि—जिनका चित्त संयत, शुद्ध और शान्त है; जिनमें वैखरी तत्त्व के भीतर से परातत्त्व तक पहुँच जाने की योग्यता है

वे 'ऋषि' हैं। "ऋषयः मंत्रद्रष्टारः ते स्मारकाः न तु कारकाः"— ऋषि मंत्रों के द्रष्टा थे, रचयिता नहीं। अपरोक्ष दर्शन खुल जाने के कारण स्वप्रकाश वैदिक मंत्र और वेद के सारतत्त्व उनकी अन्तर्दृष्टि में प्रतीत हो गये थे। उन्होने सृष्टि को अवलम्बन कर भगवान का मंत्ररहस्य और मनन प्रणाली देख ली थी। ये मंत्र प्रकृति के कलेवर में लिखे हुए हैं; जिनके दिव्य चक्षु हैं वे देख सकते हैं। आर्य दर्शनशास्त्र ऋषियों के वचन को सर्वश्रेष्ठ प्रमाण मानने को बाध्य हुए। वेदों की श्रुतियाँ और यज्ञ के मंत्र यही ऋषियों के वचन हैं।

छन्द—छन्द शब्द का अर्थ है कम्पन या ताल (Vibration)। यह जगत प्राण और रयि के नृत्य, छन्द अथवा ताल से उत्पन्न हुआ है—यह सभी मानते हैं। शब्द रहस्य छन्दतत्त्व की महिमा प्रचार करता है। ग्रीस देश का (Music of the Sphere) इस विषय में चिन्तनीय है। ऋपियों के दृष्ट मंत्रों में सुन्दर छन्द दिखाई देता है। उन्हीं छन्दों के अनुवर्तन से मंत्र का उद्देश्य सिद्ध होता है। समस्त दृष्ट पदार्थ अपने-अपने छन्द का अनुवर्तन करने को बाध्य हैं। हमारा देहयंत्र भी छन्दों की ताल में विनिर्मित है। योग ग्रन्थों में बताया गया है कि हमारे विभिन्न चक्र विभिन्न तत्त्व एक-एक छन्द का अनुवर्तन करते हैं और किस कार्य की सिद्धि के लिये देह एवं मन के किस छन्द का अनुवर्तन करना चाहिए।

देवता—प्रकृति के विभिन्न स्तरों में प्रतिबिम्बित भगवत्तत्त्व

को नाना देवताओं के नाम से उल्लेख किया गया है। जैसे पृथ्वी-तत्त्व के देवता कुबेर, जलतत्त्व के देवता वरुण, तेजतत्त्व के देवता सूर्य या अग्नि, मरुत्-तत्त्व के देवता पवन, आकाश के देवता यम, मन के देवता चन्द्र, बुद्धि के देवता विष्णु, अहंकार के देवता रुद्र, इत्यादि। वस्तुतः देवता एक ही हैं—"एको देवः सर्वभूतेषु गूढः"; "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति"। जो स्वरूपतः एक हैं अथच नाना रूप और नाना भाव में जीव-जगत में लीलारत हैं, वे ही देवता हैं। पूर्वमीमांसा में चिन्तन-मनन के विषय (object of thought, idea or concept) को देवता कहा गया है। तंत्र पन्थियों ने प्रत्येक नाम के साथ एक-एक रूप और रस मिलाकर देवता की कल्पना की है।

देवता के उद्देश्य से द्रव्य त्याग करने, आहुति देने का नाम ही 'यज्ञ' है। देवपूजक अपने-आपको इष्ट देवता से अभिन्न मानता है। अपने स्थूल एवं अन्तर्देह को देवता के तत्तत् अग रूप मे कल्पना करता है। यज्ञ के द्वारा भाव और भावमय देह की, प्राण और रयि की लीला आस्वाद करते-करते शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक कर्म के द्वारा देवता की देह लाभ करने का प्रयत्न करता है। इडा भक्षण से स्थूल और सोम-व्यवहार से देवता का सूक्ष्म देह लाभ होता है। "He that eateth My Flesh and drinketh My Blood dwelleth in Me and I in him"—Christ.

त्रिविध देवता—वेद में प्रत्येक देवता के दो रूप उल्लेख

किये गये हैं—निम्नाधिकारी के लिए प्रकाश्य स्थूल रूप और उच्चाधिकारी के लिए सूक्ष्म गूढ़रूप। सब देवता मूल शक्ति के विकास हैं। उनकी अपनी निजी कोई शक्ति नहीं—मूल देवता से वे शक्ति लाभ करते हैं।

देवताओं की संख्या—ऋग्वेद में तेंतीस देवता बताये गये हैं—स्वर्ग में ११, पृथिवी में ११ और अन्तरीक्ष में ११। शतपथ ब्राह्मण के मतानुसार अष्ट वसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, द्यौ और पृथिवी मिलाकर ३३ देवता हैं। जहाँ ३३ देवताओं का उल्लेख है वहाँ बताया गया है कि प्रत्येक देवता कोटि-कोटि भाव में अनुभूत होते हैं। इसी आधार पर पुराणकारों ने देवताओं की संख्या ३३ कोटि निर्देश की है। सार यह है कि एक ही भगवान प्रकृति, जगत एवं जीवदेह के विभिन्न तत्त्वों में प्रतिबिम्बित हुए विभिन्न देवताओं के नाम से वर्णित हैं।

देवताओं का एकत्व—सब देवताओं की मूल सत्ता एक है। सभी स्पंदनात्मक हैं; एक मूल शक्ति की अभिव्यक्ति हैं, सभी विश्वव्यापी अपरिच्छिन्न हैं। कारण-दृष्टि से सब एक हैं किन्तु कार्यरूप में अनन्त हैं। जो अन्तरीक्ष में विद्युत हैं वे ही आकाश में सूर्य हैं और पृथिवी पर अग्नि हैं। एक ही देवता की विभिन्न ऋषियों ने विभिन्न नाम से वर्णना की है —जैसे, "तुम ही रुद्र हो, तुम ही सूर्य हो, तुम ही अग्नि हो, और तुम ही अभीष्ट वर्षणकारी इन्द्र हो।" सभी देवता बलस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, सर्वदा जाग्रत, मंगलकारी एवं ऐश्वर्य और

मुक्ति दान करने में समर्थ हैं। ऋग्वेद में देवताओं की चरम एकता की ओर प्रधान लक्ष्य है। इसीलिये प्रार्थना की गयी—'संगच्छध्वं संवदध्वं......' (देखो श्लोक १४३)। जो इन्द्र करते हैं वही काम अग्नि अथवा सूर्य के द्वारा हो सकता है। वैज्ञानिक 'Transformation of Energy' इस तत्त्व को समझने में सहायता करता है।

साधन प्रणाली—देवतातत्त्व की साधना में हम प्रतिबिम्ब को अवलम्ब कर मूल बिम्ब के निकट पहुँचने का, 'त्वं-पदार्थ' को अवलम्ब कर 'तत्-पदार्थ' को अनुभव करने का, जीव जगत के भीतर से जगन्नाथ को ढूँढ़ निकालने का अपूर्व कौशल देखते हैं।

देवताओं का मनुष्य रूप में आरोप—देवताओं की मनुष्यरूप में कल्पना (Anthropomorphism) वेदों में भी मिलती है। जैसे इन्द्र की सुन्दर नासिका, शचीपति का स्थूल पेट, वज्रहस्त; रुद्र बलिष्ठ—सुवर्ण अलंकार भूषित, इत्यादि। वैदिक युग में स्थूल मूर्ति की पूजा कदाचित ही होती थी किन्तु प्रत्येक प्राकृतिक दृश्य साधक की अन्तर्दृष्टि में एक अधिष्ठात्री देवता (नर या नारी) की मूर्ति प्रकाशित करता था, इसमें सन्देह नहीं और उसी ऐश्वर्य-सौन्दर्य युक्त विग्रह को अवलम्ब कर वे ध्यान में समाहित हो जाते थे। सर्वव्यापी जब सर्वभूत में अनुप्रविष्ट अनुस्यूत हैं तो प्रत्येक अवयव को उनकी मूर्ति मानना-समझना अस्वाभाविक अथवा असत्य नहीं। सुना जाता है कि प्राचीनकाल में आहुति द्वारा देवगण यज्ञ भूमि में अवतरण करते थे।

देवताओं का समाज—भगवान की सृष्टि का प्रधान सौन्दर्य यह है कि जो-जो तत्त्व समस्त जगत में हैं वे ही प्रत्येक जीवदेह में, यहां तक कि प्रत्येक परमाणु में हैं। "एकेन विज्ञातेन सर्वं विज्ञातं भवति"–(Know one atom and you will know the universe)। पुरुषचैतन्य देवतारूप में, शक्तिरूप में प्रकृति के प्रत्येक स्तर और परिणाम में विद्यमान हैं। मनुष्यों की भांति कर्म विभाग के अनुसार देवसमाज की भी कल्पना की गयी है। "आरोग्यं भास्करादिच्छेद् धनमिच्छेद् हुताशनात्। ज्ञानं च शंकरादिच्छेत् मुक्तिमिच्छेद् जनार्दनात् ॥" इस श्लोक से देवताओंके कार्यविभाग की छाया मिलती है। ज्योतिष शास्त्र ने देवताओं की विभिन्न ग्रह-उपग्रह रूप में वर्णना की है। देवताओं में एक आदर्श शासन-तंत्र भी बताया गया है—जैसे, इन्द्र राजा, बृहस्पति मंत्री, अग्नि सेनापति, वरुण व्यवस्थापक, कुबेर कोषाध्यक्ष, इत्यादि। हमारी देह में भी एक शासनतंत्र का आभास मिलता है—जैसे आत्मा राजा, बुद्धि मंत्री, इन्द्रियाँ कर्मचारी, शब्दस्पर्शात्मक देह साम्राज्य। मनुष्य देह के अंगों में भी अलग-अलग अधिष्ठित देवता हैं—जैसे आँखों के देवता सूर्य, मन के देवता चन्द्र, बुद्धि के देवता विष्णु, इत्यादि। फिर प्रत्येक इन्द्रिय-अधिष्ठित देवता में सब देवताओं का चैतन्य गूढ़रूप में अवस्थित है। श्रेष्ठ पुरुष में यह चैतन्य पूर्णतः विकसित हता है। श्रीकृष्ण की प्रत्येक इन्द्रिय में सब इन्द्रियों की शक्तियाँ पूर्ण रूप में विकसित थीं।

विनियोग—किस उद्देश्य की सिद्धि के लिए किस प्रकार

की साधना अथवा अनुष्ठान प्रणाली अवलम्बनीय है, किस इच्छा को सफल करने के लिये क्या कार्य करना चाहिए, किस कर्म से क्या फल मिलेगा, यह सब विषय 'विनियोग तत्त्व' के अन्तर्गत है। इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति—इन तीन शक्तियों की महिमा यहां विशेषतः चिन्तनीय है। इच्छाशक्ति द्वारा लक्ष्य निर्धारित होता है, ज्ञान शक्ति द्वारा लक्ष्य तक पहुँचने का पथ ठीक किया जाता है और ज्ञान शक्ति को कार्यकारी करके (Application of the method) फल लाभ करना 'विनियोग तत्त्व' है।

(६)

मन्त्र-तन्त्र-यन्त्र रहस्य

मंत्र—जिसके मनन से त्राण प्राप्त होता है, कोई निर्दिष्ट उद्देश्य सफल होता है उसका नाम 'मंत्र' है। मंत्र शुद्धतम नाम है— शुद्धरूप से उच्चारित हो तो देवलोक ही नहीं आत्मलोक तक प्रसारित होता है। मनुष्यों के ज्ञान, वाक्य और व्यवहार अनियन्त्रित हैं, इसलिए फलप्रद नहीं होते। देवताओं के ये सब नियन्त्रित हैं इसलिए अमोघ हैं। अधिकारी और लक्ष्य के भेदानुसार मंत्र भी विभिन्न हैं। हमारा सब का जीवन एक अलग-अलग मंत्र का परिणाम है। जैसे एक छोटे से बीज में पूरा वृक्ष सूक्ष्म रूप में निहित हैं उसी प्रकार हमारे जीवन के सब रहस्य बीजरूप में एक-एक मंत्र में निहित हैं। उस मंत्र के साथ हमारी उत्पत्ति का, बीजतत्त्व का घनिष्ठ सम्बन्ध है। मंत्र बीजात्मक है जिसने जिस

बीजसे जन्म ग्रहण किया है उसके पूर्ण विकास के लिए उस मंत्र का दीक्षा रूप में श्रवण, साधना रूप में मनन एवं उसमें तन्मयता लाभ रूप निदिध्यासन उसके जीवन का लक्ष्य होगा। प्रत्येक मंत्र में व्याहृति, बीज और देवता—ये तीन तत्त्व होते हैं। ॐ कार रूप व्याहृति उच्चारणकर, अकार-उकार-मकार भेदकर अर्धमात्रा में, मूलधार से सहस्रार में (भगवन्धाम में) जाने का नियम है। वहाँ पहुँचकर धामतत्त्व, स्वरूपतत्त्व एवं भगवत्तत्त्व की उपलब्धि होती है। उसके बाद बीज के सिद्धि प्राप्त देवता की सहायता से अपने सब तत्त्व भगवत् भाव से पूर्णकर, स्वयं देवमय होकर नीचे उतर आना उस मंत्र की साधना है।

तंत्र—वेद के अभ्रान्त सत्य साधना द्वारा किस प्रकार सुस्पष्ट रूप में उपलब्ध हो सकते—यह तंत्रशास्त्र का विषय है। जो वैदिक मंत्र लाभकर साधना द्वारा उसको प्रत्यक्षीभूत नहीं करते उनके लिए सिद्धि लाभ केवल एक काल्पनिक पदार्थ, आकाश-कुसुम के समान है। साधना के बिना हम बातों में पण्डित, भाव में नास्तिक, कार्य-व्यवहार में पिशाच हो जाते हैं। इस प्रकार के अनेक शुष्क वेदान्ती और काल्पनिक संन्यासीयों द्वारा समाज की नानारूप में क्षति हो रही है। जो सत्य मंत्र में निहित है उसको मनन द्वारा बोधगम्य कर एवं समाधि द्वारा प्रत्यक्ष कर जीवन को सत्यमय बनाना होगा। तंत्रशास्त्र हमको बताता है कि किस प्रणाली से हम श्रुत सत्य को प्रत्यक्षीभूत कर सकते हैं।

यंत्र—समष्टि रूप से समस्त जगत और व्यष्टिरूप से जीव-देह साधना के अवलम्बनीय यंत्र हैं। मंत्र साधना के लिए देहयंत्र का ज्ञान आवश्यक है। ऋषिगण आविष्कार कर गये हैं कि हमारे देहतत्त्व के प्रधान रहस्य मस्तिष्क में और मेरुदण्ड के विभिन्न केन्द्रों में निहित हैं। पृथक-पृथक अनुभूति एवं कार्यकलाप

के लिए विभिन्न केन्द्र निर्दिष्ट किये गये हैं। प्रत्येक केन्द्र में असीम शक्ति सुप्तरूप में विद्यमान है और इस सुप्त शक्ति को जाग्रत किया जा सकता है—यही ऋषियों का कुलकुण्डलिनी तत्त्व है। देह के किस केन्द्र में मन स्थिर कर, किस प्रणाली द्वारा साधन कर, केन्द्र की निहित शक्ति को पूर्ण विकसित और कार्यकारी किया जा सकता है—यह योगियों के षट्चक्रभेद के अन्तर्गत है। भगवद्दर्शन के लिये दर्शनेन्द्रिय को पूर्ण विकसित कर दिव्यदृष्टि लाभ करना होगा, भगवद्-वाणी सुनने के लिए दिव्य श्रवण लाभ करना होगा, भगवद् अनुभूति के लिए तन्-तन् केन्द्रों में मन स्थिरकर वहाँ की सुप्त शक्ति को जाग्रत करना होगा। "सचक्षुः अचक्षुः इव, सकर्णः अकर्णः इव, सप्राणः अप्राणः इव," इत्यादि श्रुति इसके साक्षी हैं। यज्ञतत्त्व में यंत्रतत्त्व का विशेष स्थान देखने में आता है। पंचाग्नि विद्या की पाँच अग्नियों के स्थान देहस्थ पाँच प्रधान केन्द्र हैं। मूलाधार, मणिपुर, अनाहत, विशुद्धाख्य और आज्ञाचक्र—ये देह में अवस्थित स्नायुकेन्द्र ही, यज्ञ में वर्णित पांचकुण्डों में अवस्थित भर्गोदेव ही यज्ञ की पंचाग्नि के नामान्तर मात्र हैं।

मंत्र रहस्य से हम भगवत्तत्त्व, स्वरूपतत्त्व, जीव से शिव का सम्बन्ध एवं जीव के शिवत्व प्राप्ति के उपाय से अवगत होते हैं। साधनप्रधान तंत्रतत्त्व से हमको भगवल्लाभ करने की साधन प्रणाली मालूम होती है। यंत्रतत्त्व की सहायता से हम देहस्थ विभिन्न केन्द्रों की शक्ति को जागरितकर भगवद्दर्शन, भगवत्-उपलब्धि की योग्यता लाभ करते हैं।

———

यज्ञ का तात्पर्य

कर्ममात्र ही यज्ञ है--जिस कर्म में आसक्ति नहीं, फलाकांक्षा नहीं, जो कर्म 'आनन्दप्राचुर्यात्'-स्वभाव से किया गया हो। जीव ब्रह्म का परिणाम अथवा विवर्तन है। इसलिए परिणाम या विवर्तन-जनित कुछ विकृति जीव में आ ही जाती है जो जीव को शिव से पृथक करा देती है—'तत्' पदार्थ और 'त्वं' पदार्थ के बीच एक काल्पनिक भेद पैदा कर देती है। भेद द्रष्टा की दृष्टि में नहीं है किन्तु बद्ध जीव की दृष्टि में है। जीव साधना के द्वारा यह काल्पनिक भेदभाव दूर कर शिवत्व में प्रतिष्ठित हो सकता है। इस आगन्तुक मलिनता को दूर कर 'त्वं' पदार्थ को 'तत्' पदार्थ में प्रतिष्ठित करना ही साधनभजन का उद्देश्य है। इस अवस्था में जीव का कर्म शिव का कर्म हो जाता है। शिव का कर्म ही 'यज्ञ' है। जिस कौशल से जीव के कर्म को शिव के कर्म में परिणत किया जाता है उसी का नाम 'यज्ञ' अथवा 'योग' है। गीता का "योगः कर्मसु कौशलम्" रहस्य यहाँ चिन्तनीय है। संसार में तीन प्रकार के लोग देखने में आते हैं। एक प्रकार के लोग तो अभाव पूरण के लिये कर्म करने में, कर्म में आसक्त होकर, बन्धन में फँस जाते हैं। दूसरे प्रकार के लोग कर्म के, संसार के स्वरूप को न जानकर कर्मबन्धन के भय से कर्म से वृथा दूर रहने की चेष्टा करते हैं। वे यह नहीं समझते कि देह धारण के लिए किसी न किसी रूप में कर्म करना ही पड़ेगा (गीता ३।५)। शास्त्र में जिस संसार के त्याग की वर्णना की गयी है वह कामना, वासना, आसक्ति, आदि का त्याग है, भगवत्सृष्ट जगत का त्याग नहीं—"वासना एव संसारः", "यत्र यत्र भवेत्तृष्णा संसारं विद्धि तत्तदा"। तीसरे प्रकार के

बुद्धिमान लोग, राजर्षिजनक की तरह, अनासक्त फलाकांक्षा वर्जित होकर, भगवत् इच्छा पूरण के लिए, लोकसंग्रह के निमित्त, स्वभाव से कर्म करते रहते हैं। इसी प्रकार के लोगों को योगी, प्रकृत याज्ञिक कहा जाता है।

---

(८)

यज्ञ क्या है

'यज्ञ'—सृष्टि आदि व्यापार में आनन्द आस्वाद करने और कराने के लिए देवता का आत्मदान एवं देवता के निमित्त जीव का द्रव्य और भाव दान। अतएव यज्ञ के दो स्वरूप हैं— 'पुरुषमेध' और 'नरमेध'। 'तत्' पदार्थ की 'त्वं' रूप में सृष्टि, परिणति या विवर्तन 'पुरुपमेध' यज्ञ है और 'त्वं' पदार्थ का 'तत्' स्वरूप में प्रत्यावर्तन 'नरमेध' यज्ञ है। 'तत' और 'त्वं' की, पुरुष और प्रकृति की, प्राण और रयि की, अन्नाद और अन्न की, spirit और matter की लीला ही यज्ञतत्त्व है। यह सृष्टि, स्थिति और लयात्मक है। यज्ञ सिद्ध के लिए केवलात्मक है— सर्वत्र ब्रह्मानुभूति; साधक का यज्ञ भावनात्मक है—अपने और जगत के प्रत्येक तत्त्व में ब्रह्म की भावना और लीलानुभूति; प्रवर्तक का यज्ञ द्रव्यात्मक है—स्थूल देह और स्थूल पदार्थ की सहायता से चित्त को शुद्ध करना। यज्ञ नाना भाव का द्योतक है।

(१) **यज्ञ भगवान स्वयं**—"यज्ञो वै विष्णुरिति"। जो सब विद्वान लोगों के पूज्य हैं वे सर्वव्यापी परमात्मा ही यज्ञ हैं। सब तत्त्वों, सब कर्मों में भगवदुपलब्धि का नाम यज्ञ है। यहाँ गीता का "ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः..." श्लोक (गीता ४।२४) अनुभवनीय है।

(२) **यज्ञ वैदिक ऋषियों का प्रधान अनुष्ठान**—अतिवृष्टि, अनावृष्टि, युद्ध-विवाद, महामारी, इत्यादि में जीव की रक्षा के लिए संघबद्ध होकर जो भी कर्म किये जाते थे उनका साधारण नाम 'यज्ञ' था। यज्ञ जनता की सुप्त शक्ति को जागरित कर, सबके सद्‌गुणों को एकत्रित कर, लोगों को देश का प्रकृत कल्याण करने में समर्थ करता था।

(३) **यज्ञ कर्म का कौशल है**—"योगः कर्मसु कौशलम्"—(गीता २।५०) सृष्टि कर्म से हुई—कर्म द्वारा जगच्चक्र चालित है। इसलिए देह रक्षा के लिए कर्म करना ही पड़ेगा। जब कर्म के प्रकृत स्वरूप को भूलकर, कर्म को बन्धन का कारण मानकर, ज्ञानियों की संन्यास लेने की तरफ प्रवृत्ति बढ़ी तब यज्ञतत्त्व ने कर्म का प्रकृत स्वरूप समझाकर—अनासक्त फलाकांक्षा रहित होकर यज्ञार्थ कर्म करने से कर्म बन्धन का नहीं बल्कि मुक्ति का, भगवत् प्राप्ति का कारण होता है जीवका संसारका प्रचुर कल्याण किया। "यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः" (गीता ३।९)। यज्ञ सकाम कर्म को निष्काम कर्म में, जीव के कर्म को शिव के कर्म में, नीरस कर्म को रसयुक्त कर्म में परिणत करने का अपूर्व कौशल बताता है। "अनासक्त-अनुरागी संसारी-संसारत्यागी" होने का, संसार में रहते हुए अनाबद्ध होने का रहस्य हम यज्ञतत्त्व से सीखते हैं।

(४) **यज्ञ ऋणशोधात्मक कर्म है**—त्याग (Sacrifice)—भगवान ने सर्वप्रथम सृष्टि-व्यापार में अपने आपको उत्सर्ग

कर यज्ञ आरम्भ किया (पुरुषमेध यज्ञ)। इसीलिये सर्वत्र त्याग का व्यापार देखने में आता है। त्याग के बिना समाज या जगत ठहर ही नहीं सकता। आज त्याग की महिमा भूल जाने के कारण ही जगत में इतनी अशान्ति है। हम जीव-जन्तु, पशु-पक्षी, कीट-पतंग, मनुष्य-देवता सबके ऋणी हैं। हम सबसे ऋण लेकर, सेवा लेकर उनके लिये कुछ न करें तो हम को चोर कहा जा सकता है। प्राचीन हिन्दुओं के नित्य अनुष्ठेय पंचमहायज्ञ में यह ऋण शोध करने की व्यवस्था थी। निःस्वार्थ रूप से सब जीवों की सेवा करना, 'सर्वभूतहिते रत' रहना, हिन्दुओं का प्रधान यज्ञ था। सब अनुष्ठानों में पहले स्वस्ति वाचन पाठ किया जाता था। सब की अनुमति लेकर, आशीर्वाद लेकर सबके मुख से 'सु+अस्तु' (यह कार्य सफल हो) मंगलवाणी सुनकर शुभ कार्य आरम्भ किया जाता था। हिन्दूशास्त्र में अकृतज्ञता महापाप है।

(५) **कर्ममात्र यज्ञ है**—इस का अर्थ यह है कि वैदिक ऋषियों ने उपलब्धि की थी कि सब कामों को यज्ञ में, पूजा में परिणत किया जा सकता है। सम्पूर्ण जगत को नन्दन वन में, समस्त वाक्यों को वेद में, सब भावों को उपासना में परिणत करना ही उनके जीवन का प्रधान लक्ष्य था। व्यापक अर्थ में समस्त कर्म यज्ञ है; संकीर्ण अर्थ में विधिपूर्वक देवता के निमित्त द्रव्य त्याग करना—आहुति देना यज्ञ है। कर्म द्विविध हैं—भगवान का कर्म (पुरुषमेध यज्ञ) और जीव का कर्म (नरमेधयज्ञ)। भगवान का कर्म सृष्टि और स्थिति-आत्मक है; जीव का कर्म लयात्मक है। गीता का श्लोक—'सहयज्ञा प्रजा सृष्ट्वा'...३।१०—बहुत ही युक्तिसंगत है। यज्ञ शक्ति का सातत्य (Conservation of energy and persistence of

force) हैं; भगवान की क्रियाशक्ति का अव्यक्तावस्था में व्यक्तावस्था में आगमन (Conversion of potential energy into kinetic energy) यज्ञ है। यज्ञ कर्मचक्र, धर्मचक्र और जगच्चक्र का अनुवर्तन है।

(६) यज्ञ लीला विशेष है—यज्ञ प्राण और रयि, अग्नि और सोम, अन्नाद और अन्न, शक्ति और शक्तिमान, शिव-शक्ति, कृष्ण-राधा, राम-सीता की लीलाविशेष है। ब्रह्म का जीवरूप में, पिता का पुत्र रूप में, एक का बहुरूप में, अविभक्त का विभक्त रूप में, असीम का ससीम रूप में, 'तत्' पदार्थ का 'त्वं' पदार्थ रूप में परिणति या विवर्तन 'पुरुषमेध यज्ञ' है एवं जीव का शिवत्व लाभ, पुत्र का पिता में लीन होना, बहु की एक-रूप में, 'त्वं' की 'तत्' रूप में पुनरुपलब्धि (Paradise regained) 'नरमेध यज्ञ' है। यह उभयात्मक लीला-अभिनय यज्ञतत्त्व के अन्तर्गत है।

(७) यज्ञ भगवत् आराधना है—जिस कर्म से चित्त शुद्ध हो, भगवत् प्राप्ति हो वही यज्ञ है।

(क) यज्ञः फलाभिसन्धिरहितं भगवदाराधनम् —

(रामानुज भाष्य गीता १६।१)।

(ख) यज्ञः परमेश्वराराधनम्—यज्-देवपूजायाम —

(नीलकण्ठ)

(ग) इज्यते पूज्यते परमेश्वरः अनेन इति यज्ञः —

(गिरि)।

भगवत् प्राप्ति के अनुकूल कर्म ही यज्ञ है। जो कर्म मलिनता दूर कर चित्त को शुद्ध करता है, भगवत् प्राप्ति की योग्यता दान करता है, जीव को स्रोतापन्न करता है उसी का नाम यज्ञ है। यज्ञ योगविशेष है जिसके द्वारा भगवान से युक्त होते हैं। सब कर्मों में भगवान की शक्ति का कर्तृत्व अनुभवकर, अपने कर्तृत्वाभिमान

को बिसर्जन कर, आत्मनिवेदन करने का नाम यज्ञ है। जप, सन्ध्या, पूजा, उपासना, आराधना, आदि साधनाएँ सभी यज्ञ नाम के योग्य हैं।

(८) यज्ञ—Process of Distillation—हवनीय सामग्री की, भुक्त द्रव्य की, देहस्थ पंचाग्नि की सहायता से मलिनता दूर कर, क्रमशः रक्त, वीर्य, ओजस् एवं सुधा में परिणत कर भगवान को अर्पण करना और उसके बाद उस सुधा से देह के सब तत्त्वों को, इन्द्रियों को आप्यायित करना, शक्तियुक्त करना, भगवत् कार्य साधन की योग्यता लाभ करना। यह सुधा ही वस्तु का प्रकृत स्वरूप, भागवती तनु, भगवान की लीलास्वीकृत विग्रह है। अग्नि का काम है सब अशुद्धि, नाम-रूप का आगन्तुक मल दूरकर शुद्ध स्वरूप को प्रकाशित करना, ब्रह्मरूप में पर्यवसित करना। इसके बाद पूर्णाहुति से सब तत्त्वों को, हवनीय द्रव्य को सुधा में परिणत कर, पूर्ण ब्रह्म को पूर्णरूप में उपलब्धि कर स्वयं पूर्ण हो जाना।

पृथिवी में दो वस्तु कार्य कर रही हैं—अग्नि और सोम। ये अहं-इदं, द्रष्टा-दृश्य, भोक्ता-भोग्य, अन्नाद-अन्न, प्राण और रयि नाम से परिचित हैं। प्रत्येक सोम में शुद्ध और मलिन दो अंश होते हैं। अग्नि मलिनता दूर कर शुद्ध अंश को ऊपर सहस्रार की ओर प्रेरण करती है। इसके बाद यह सोम निम्नगामी होकर देवताओं को आप्यायित करता है जिससे मन, प्राण, देहादि सब आनन्दमय हो जाते हैं। देवताओं का आहार सोम है। अग्नि की सहायता से देवताओं को सोम अर्पण करने का नाम यज्ञ है।

(६) यज्ञ स्वधर्मपालन है—स्वधर्म माने आत्मा का धर्म (स्वज्ञातावात्मने) ; आत्मा के विकास के अनुकूल धर्म। आत्मा सर्वव्यापी है; सुतरां जो धर्म आत्मा का सर्वव्यापित्व उपलब्धिकर आत्मा के प्रकाश को भगवत् विभूति, भगवत् मूर्ति

समझकर सर्वजीव के हित साधन में व्यग्न है, वही स्वधर्म है। भगवान शंकराचार्य स्वधर्म को वर्णाश्रम धर्म नाम से निर्देश कर गये हैं। आश्रम धर्म (Duty to Self) अपनी पूर्ण परिणति लाभ करने की व्यवस्था; वर्ण धर्म (Duty towards Others) समाज की, देश की, सब जीवों की पूर्ण परिणति में सहायक होना। गीता ने स्वधर्म पालन की ओर विशेष दृष्टि दी है। यज्ञ से जो फल मिलता है वर्णाश्रम आदि स्वधर्मपालन से भी वही फल मिलता है। इसीलिए प्राचीन ऋषियों ने स्वधर्म पालन को प्रसिद्ध यज्ञरूप में वर्णन किया है।

(१०) इन्द्रियों द्वारा विषय ग्रहण करने में यज्ञ भावना—शब्दस्पर्शादि विषय पर अवस्था से उतरकर इन्द्रियों के रास्ते से हमारे अनुभव में होकर फिर पर अवस्था में चले जा रहे हैं—यह अनुभूति (गीता का 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः' तत्त्व यज्ञतत्त्व के अन्तर्गत है। वे हमारी इन्द्रियों में अधिष्ठित हो विषय ग्रहण कर रहे हैं—यह अवधारण कर विषयभोग को, सब कामों को पूजा में पर्यवसित करना ('पूजा ते विषयोपभोगरचना') यज्ञतत्त्व के अन्तर्गत है। जपयज्ञ में श्वास-प्रश्वास की (Afferent और efferent current की) क्रिया के भीतर हम नरमेध और पुरुषमेध यज्ञ आस्वाद करते हैं—'त्वं' और 'तत' की लीला दर्शन करते हैं।

(११) विषय को इन्द्रियों में, इन्द्रियों को प्राण में, प्राण को मन में, मन को विज्ञान में, विज्ञान को आनन्द में और आनन्द को आत्मा में आहुति देने की व्यवस्था जो उपनिषदों में वर्णन की गयी है, यज्ञतत्त्व के अन्तर्गत है।

(१२) कार्य-कारण की लीला और तत्त्वानुसंधान—कार्य का कारण से आगमन और कार्य का फिर मूल कारण

('सर्वकारणकारणम्') में पर्यवसान भी यज्ञतत्त्व के अन्तर्गत है।

(१३) यज्ञ व्यष्टि-समष्टि तत्त्वका अनुशीलन है—व्यष्टि को समष्टि में आहुति देना--समष्टि के कार्य में सहायक होना भावनात्मक यज्ञ है।

(१४) देवताओं के निमित्त द्रव्य त्याग—देवताओं का तृप्ति साधन, देवता द्वारा जीव के सब तत्त्वों का आप्यायन यज्ञ है।

(१५) "पाङ्क्तो वै यज्ञः"—देवता, हविद्रव्य, मंत्र, ऋत्विक् और दक्षिणा—इन पाँचों के एकत्र समावेश से 'यज्ञ' होता है।

सारांश—भगवत् प्राप्ति के अनुकूल, एकाग्रता का साधक, आत्मज्ञान मूलक, शक्तिदायक कर्ममात्र ही 'यज्ञ' है।

---

(६)

यज्ञ का प्रयोजन

मानव जीवन का प्रधान लक्ष्य है भगवत् प्राप्ति अथवा पूर्णता लाभ। यज्ञ द्वारा यह लक्ष्य सुचारु रूप से सिद्ध होता है। अभ्युदय (धर्म, अर्थ, काम) एवं निश्रेयस् (मोक्ष) प्राप्ति की व्यवस्था भी यज्ञ में है।

सामाजिक दृष्टि से यज्ञ का उद्‌देश्य है एकता-स्थापन, बहुत्व के भीतर कारणतत्त्व—एकत्व (Unity in Diversity) की

उपलब्धि। भेदभाव, द्वन्द्वभाव, द्वैतभाव दूर करके शान्ति और मैत्री स्थापन करना; समष्टि के कल्याण में ही व्यष्टि का कल्याण है—यह तत्त्व अनुभव कराके सबको संघबद्ध करना। वैदिक युग में समाज की स्थिति और पुष्टि की सर्वविध चेष्टाओं को यज्ञरूप में ग्रहण किया जाता था। अतिवृष्टि, अनावृष्टि, राष्ट्रविप्लव, महामारी, आदि दूर करने के लिए सब दलबद्ध होकर यज्ञानुष्ठान करते थे।

यज्ञ की सुगन्धित आहुति से वायु शोधित और स्वास्थ्य में उन्नति होती है। यज्ञ के प्रसाद—इड़ा-भक्षण से भ्रातृभाव प्रसार लाभ करता है। यज्ञ अज्ञात रूप से सकामी को निष्कामी, लोभी को त्यागी, कृपण को दानी बना देता है।

मनुष्य जीवन में उन्नति और शान्ति लाभ करने के लिए जो कुछ आवश्यक है उस सब की विधि-व्यवस्था यज्ञ में है।

————

(१०)

यज्ञ के प्रकार और अधिकारी विचार

अधिकारी और रुचि के अनुसार यज्ञ के अनेक प्रकार हैं। इस विषय में सब एकमत नहीं हैं फिर भी कुछ प्रधान भेद मान्य हैं।

(१) यजुर्वेद में द्रव्यात्मक, सामवेद में भावनात्मक अथवा मिश्र और ऋक् वेद में केवलात्मक अथवा ज्ञानयज्ञ का प्राधान्य है।

(२) गीता के कर्मयोग, भक्तियोग एवं ज्ञानयोग को वेद का द्रव्यात्मक, भावनात्मक एवं केवलात्मक यज्ञ कहा जा सकता है। गीता में वर्णित तपोयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ भावनात्मक यज्ञ के अन्तर्गत हैं।

(३) यज्ञ का विभाग श्रौत और स्मार्त भेद से भी है।

(४) इसके अतिरिक्त नित्य और नैमित्तिक भेद से भी यज्ञ का विभाग है। सन्ध्या, वन्दना, पंचमहायज्ञ नित्य यज्ञ हैं; अश्वमेध, राजसूय आदि नैमित्तिक यज्ञ अब प्रायः लोप हो गये हैं।

(५) जाति भेदानुसार भी यज्ञ में भेद देखा जाता है। "आरम्भयज्ञाः क्षत्राः स्यु हविर्यज्ञा विशः स्मृताः। परिचारयज्ञा शूद्रास्तु जपयज्ञास्तु ब्राह्मणाः॥" ब्राह्मण के लिए जपयज्ञ, क्षत्री के लिए आरम्भ यज्ञ, वैश्य के लिये हविः यज्ञ और शूद्र के लिए परिचर्यात्मक यज्ञ बताया गया है।

(६) युगानुसार भी यज्ञ विभाग देखने में आता है। सत्ययुग में ध्यानयज्ञ, त्रेता में ज्ञानयज्ञ, द्वापर में होमादि दैवयज्ञ एवं कलियुग में दानयज्ञ अथवा संकीर्तनयज्ञ—'कलियुग केवल नाम आधारा'। महाप्रभु चैतन्यदेव उच्चस्वर से भगवान का नाम कीर्तन कलियुग का यज्ञ मानते थे। यजुर्वेद में पन्द्रह प्रकार के यज्ञों का उल्लेख है। आपस्तम्ब मतानुसार यज्ञ द्विविध है—ज्ञान और कर्म अथवा श्रौत और गृह्य।

अधिकारी विचार—बोध के तारतम्यानुसार पण्डितों ने मनुष्य जाति को तीन श्रेणी में विभक्त किया है—उत्तम, मध्यम, अधम। निम्न श्रेणी के साधारण लोगों के लिए द्रव्यात्मक यज्ञ, मध्यम श्रेणी के लिए मिश्र अथवा भावनात्मक यज्ञ और उत्तम अधिकारी के लिए ज्ञानात्मक यज्ञ विहित है। उसके ऊपर तुरीयावस्था के लिए शास्त्र में कोई विधि-निषेध नहीं। वे जो करें वही

पूजा और यज्ञ है उनके यज्ञ को केवलात्मक अथवा उच्च ज्ञानात्मक कहा गया है।

जिनकी धारणा शक्ति कम है, जो केवल सांसारिक सुख चाहते हैं उनको इन्द्रियों के तृप्तिकर विषयों के माध्यम से ही ऊपर उठाना होगा। उनके लिए द्रव्यात्मक यज्ञ विधेय है। उनके लिए आवश्यकीय द्रव्य हैं भोग के उपकरण; उनके आदर्श रखे गये हैं मनुष्योचित देवता जो स्वर्ग के सुख भोग में व्यस्त हैं। नाम के लिए, सुख के लिये उनको धूमधाम से यज्ञानुष्ठान करने की प्रवृत्ति दी गयी है। ऋषियों के इस प्रकार निम्नाधिकारी को शनैः-शनैः अज्ञातरूप से ऊपर उठाने का कौशल देखकर अवाक हो जाना पड़ता है।

श्रेणी विभाग होने पर भी गुण-कर्म के अनुसार ऊपर उठने की प्रणाली साधना पर निर्भर करती है।

———

(११)

द्रव्यात्मक, भावनात्मक, केवलात्मक यज्ञ।

'द्रव्य' शब्द् का अर्थ है जो चित्त को द्रवीभूत करे, आकृष्ट करे, लोभ दिखाये अर्थात् बाह्य स्थूल पदार्थ। इसी प्रकार, 'पदार्थ'=पद +अर्थ। 'पद' के माने है विष्णु का परम पद अर्थात ब्रह्मवस्तु। 'अर्थ'= उनका प्रकाश, विभूति, महिमा। ब्रह्म की जब सृष्टि करने की इच्छा हुई तो वे स्वयं जीवजगत रूप में परिणत या विवर्तित हो

गये। इस परिणति या विवर्तन का बाहरी अंश द्रव्य या पदार्थ है। इसका काम है जीव को भगवान की ओर आकर्षित करना। सभी द्रव्य स्वरूपत: ब्रह्मशक्ति का प्रकाश हैं।

द्रव्यात्मक यज्ञ—द्रव्य अथवा विषय को अवलम्बकर 'विषयी' अथवा 'पद' के निकट पहुँच जाने की चेष्टा का नाम 'द्रव्यात्मक यज्ञ' है। हम स्थूल में सीमाबद्ध हैं, सूक्ष्म तत्त्व की कल्पना करने में भी असमर्थ हैं। इसलिए प्राचीन ऋषियों ने साधारण जीव के लिए स्थूल द्रव्य के अवलम्बन द्वारा, निर्दिष्ट पदार्थ के अर्पण से, पदार्थ का प्रकृत स्वरूप उपलब्धि करने की व्यवस्था की। साधारण मनुष्य भगवान का प्रकृत स्वरूप उपलब्धि नहीं कर सकता। इसलिए उसको भगवान के प्रतिबिम्ब देवताओं के अवलम्बन द्वारा भगवान के पास ले जाने की व्यवस्था की गयी। देवताओं की मूर्तियाँ सुन्दर चित्ताकर्षक मनुष्यरूप में बनाई गयीं जिससे साधारण मनुष्य उनके पास जाने को लुब्ध हो। देवता भगवान की शक्ति और ऐश्वर्य से सम्पन्न हैं। वे हमारी श्रेय और प्रेय रूप वांछा पूर्ण करने में समर्थ हैं। इन देवताओं की आहुति से उन आदि देव के पास पहुँचने की सुन्दर व्यवस्था द्रव्यात्मक यज्ञ में दृष्ट होती है।

द्रव्यात्मक यज्ञ एवं साधारण पूजा में प्रतीकवस्तु को अवलम्ब कर परम तत्त्व, परम पद की उपासना की जाती है। प्रतीक अवलम्बन किया जाता है तत्त्व को प्रकाशित करने के लिए। इस प्रकार पुजारी को इष्ट की ओर, साधक को साध्य की ओर, जीव को शिव की ओर ले जाकर, जीव और शिव का भेद दूर कर, जीव को स्वरूप प्रतिष्ठ करने की सुन्दर व्यवस्था देखने में आती है।

भावनात्मक यज्ञ—द्रव्यात्मक यज्ञ के मंत्रों की उच्चारण प्रणाली एवं मुद्रादि के प्रभाव से यजमान का मन स्वाभाविक रूप से

भावनात्मक यज्ञ की ओर आकृष्ट होता है। भावनात्मक यज्ञ मानसिक पूजा की तरह है। भावना का अर्थ है चिन्तन—ध्यान, मनन, निदिध्यासन। भावनात्मक यज्ञ के द्वारा हम अनुभव करते हैं कि भगवान किस प्रकार हमारे अन्दर-बाहर लीलारत हैं एवं जीव जगत भगवान की परिणति या विवर्तन हैं। "ईशावास्यमिदं सर्वं"—इस जगत में जो कुछ है सब भगवान द्वारा परिभावित है। भावना के फलस्वरूप साधक इष्ट भाव से परिभावित हो जाता है—ध्याता ध्येय में रूपान्तरित हो जाता हैं–"भजेन् भ्रमरकीटवत्"। भावनात्मक यज्ञ में चित्त को शुद्ध और शान्त करने की सुन्दर व्यवस्था है। शुद्ध चित्त में ब्रह्म का स्फुरण स्वाभाविक ही होता है। सब तत्त्वों, सब भूतों, सब कामों में भगवन् लीला अनुभूति भावनात्मक यज्ञ का लक्ष्य है। सब पदार्थों में ब्रह्मसत्ता का अस्तित्व एवं सब क्रियाओं में ब्रह्म की क्रियाशक्ति की कर्तृत्वानुभूति को सर्वदा जागरित रखने की चेष्टा का नाम भावनात्मक 'यज्ञ' है। (I am not the doer, the work is done through me).

(१) **सृष्टि-व्यापार में यज्ञ भावना**—चिन्तन करना चाहिए कि एक ही सगुण ब्रह्म अथवा प्राण शक्ति ने विभिन्न छन्दों विभिन्न तालों में स्पन्दित होकर किस प्रकार सब आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक पदार्थों को सृष्ट किया। चक्षु, कर्ण, वाक्य, मन, आदि आध्यात्मिक इन्द्रियाँ आधिदैविक सूर्य, यम, अग्नि, चन्द्र आदि की रूपान्तरमात्र हैं। अनुभव करना चाहिए कि एक ही प्राणशक्ति ग्रह-उपग्रहादि सब आधिदैविक, आध्यात्मिक एवं आधिभौतिक पदार्थों में परिणत और लीलारत है। श्रीभगवान प्राणरूप में सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु, जल, वृक्ष-लता,

पशु-पत्ती, आदि में किस प्रकार स्थित हुए हमारा कल्याण कर रहे हैं—यह रहस्य चिन्तनीय है।

(२) प्रकृति के सब कर्मों में यज्ञभावना— भगवान ने यज्ञ के सहित जगत सृष्ट किया (गीता ३।१०), उनके यज्ञ में विराम नहीं है। इसलिए जीव-जगत भी यज्ञ किये बिना नहीं रह सकता। देवता, ऋषि, पितर, मनुष्य, पशु-पक्षी, ग्रह-उपग्रह, वृक्षलता, नद-नदी इत्यादि समस्त भूत अपना-अपना निर्धारित यज्ञ करने को बाध्य हैं। भावनात्मक यज्ञ हमको बताता है कि सब कार्य उन्हीं के पास से आ रहे हैं और उन्हीं में जाकर लीन हो रहे हैं। इस लीला की अनुभूति भावनात्मक यज्ञ का उद्देश्य है।

(३) सर्वभूत में यज्ञ भावना—आत्मीय-स्वजन, शत्रु-मित्र, आदि सब प्राणियों में भीतर-बाहर बैठे भगवान कितने रूपों, कितने भावों में हमारी सेवा कर रहे हैं; हम किस प्रकार इनका प्रत्युपकार करें इस चिन्ता का अनुशीलन भावनात्मक यज्ञ है।

(४) द्रष्टा-दृश्य-दर्शन में यज्ञभावना एवं अपने भीतर यज्ञ दर्शन—दृश्य रूप में भगवान हमारे इन्द्रिय-ग्राह्य हुए हैं, वे ही हमारे भीतर बैठे विषय ग्रहण कर रहे हैं एवं समस्त क्रियाएँ भी वे ही कर रहे हैं—यह तत्त्व उपलब्धि करना भी भावनात्मक यज्ञ है।

(५) [क] श्वास-प्रश्वास में यज्ञ भावना—एक ही प्राणशक्ति किस प्रकार हमारी श्वास-प्रश्वास क्रिया के द्वारा परा अवस्था से आती है और पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी में होकर बाहर निकलती है एवं विपरीत क्रम में फिर परा अवस्था में जाकर

पर्यवसित हो जाती है—इस तत्त्व को उपलब्धि करने की चेष्टा भावनात्मक यज्ञ है। जपयज्ञ भावनात्मक यज्ञ के अन्तर्गत है।

[ख] **भोजनादि व्यापार में यज्ञ भावना**—भोज्य रूप में हमारे सम्मुख कौन हैं, कौन हमारे भीतर बैठे भोजन कर रहे हैं किस शक्ति से भुक्त द्रव्यादि रक्त, वीर्य, ओजस और सुधा में परिणत हो रहे हैं—इस तत्त्व की उपलब्धि की चेष्टा भावनात्मक यज्ञ है। सात्त्विक पदार्थ, सात्त्विक रूप में भोजन इस परिणति में सहायक है।

[ग] **अन्तर्यामिभाव में यज्ञ भावना**—हमारे भीतर बैठे वे हमको जीवित रखने की, सुखी करने की, आनन्द धाम में ले जाने की कितने प्रकार से चेष्टा कर रहे हैं यह तत्त्व उपलब्धि कर उनके प्रिय कार्य साधन करने की चेष्टा यज्ञ है।

[घ] **कर्तृत्वाभिमान त्याग में यज्ञ भावना**—हमारे वचन, भाव और कार्य के द्वारा कौन आत्मप्रकाश कर रहे हैं; हमारी इन्द्रियों के कर्ता वे ही हैं, हम नहीं—यह तत्त्व हृदयंगम कर सम्पूर्णतः निरहंकार हो जाने की चेष्टा भावनात्मक यज्ञ है।

(ङ) **बाल्य-यौवन-वार्द्धक्य-मृत्यु में यज्ञ भावना**—शरीर के परिवर्तन में, यहाँ तक कि मृत्यु में भी कौन हमको हाथ पकड़कर ले जा रहे हैं, हमारी पूर्णता प्राप्ति में सहायता कर रहे हैं—इस अनुभूति की चेष्टा भावनात्मक यज्ञ के अन्तर्गत है।

[च] **जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति में यज्ञ भावना**—जाग्रत् अवस्था में विषय ग्रहण, स्वप्न में उसका अनुचिन्तन, सुषुप्ति में आनन्दानुभूति, प्राण-मन की आत्मा में आहुति यज्ञ भावना है।

[छ] **इन्द्रियों के विषय ग्रहण में यज्ञ भावना**—शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध सब विषय उन्हीं से आये हैं और इन्द्रियों

के अधिष्ठाता रूप में वे ही इनको ग्रहण करते हैं—यह उपलब्धि भावनात्मक यज्ञ के अन्तर्गत है।

(६) नाम-रूप का ब्रह्मसत्ता में पर्यवसान यज्ञ भावना—नामरूप सृष्टि ब्रह्मसत्ता का विवर्तन है, ब्रह्मसत्ता में स्थित है और ब्रह्मसत्ता में ही इसका पर्यवसान है—यह अनुभूति लाभ करने की चेष्टा यज्ञ के अन्तर्गत है।

(७) प्रतीक को अवलम्ब कर ब्रह्म तक पहुँचने की चेष्टा एवं प्रकृत अहंतत्त्व का अनुसन्धान भावनात्मक यज्ञ है।

(८) सब पदार्थ, स्त्री-पुत्र-परिवार, ब्रह्म की महिमा प्रसार कर रहे हैं, उन्हीं की लीलास्वीकृत विग्रह हैं। समस्त विश्व ब्रह्म का विशेपण है—इस विशेपणको अवलम्ब कर विशेष्य, मूल ब्रह्मतत्त्व, के निकट जाना होगा। यह भी भावनात्मक यज्ञ है।

(९) यज्ञ की अग्नि, उपकरण द्रव्य, मंत्र, यज्ञसाधक होता—इन सब में ब्रह्मभावना करने की व्यवस्था है। 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः' मंत्र का अर्थ चिन्तनीय है।

(१०) ऋग्वेद में सब देवताओं की कार्य और कारण (Cause and Effect) द्विविध रूप में वर्णना की गयी है। कार्य रूप को अवलम्ब कर कारण रूप में जाने का उपदेश दिया गया है। कारण रूप विष्णु का परम पद एवं कार्यरूप उनका अर्थ या बहिः-प्रकाश है। पदार्थ को अवलम्ब कर परम पद में जाने की चेष्टा भावनात्मक यज्ञ है। सत्यप्रतिष्ठा और प्राणप्रतिष्ठा भावनात्मक यज्ञ की महिमा कीर्तन करते हैं।

केवलात्मक यज्ञ—जैसे द्रव्यात्मक यज्ञ उपयुक्त अनुशीलन के फलस्वरूप भावनात्मक यज्ञ में पर्यवसित होता है उसी प्रकार

भावनात्मक यज्ञ सब पदार्थों में एक कारण सत्ता की लीला दर्शन कराकर अद्वैत ब्रह्मसत्ता की ओर ले जाता है। इस प्रकार की अनुभूति के फलस्वरूप साधक सविकल्प समाधि की योग्यता लाभ कर केवलात्मक यज्ञ का अधिकारी हो जाता है।

यजुर्वेद में द्रव्यात्मक यज्ञ की प्रधानता है, सामवेद में भावनात्मक यज्ञ का प्रसार है, ऋग्वेद केवलात्मक यज्ञ में विभोर है।

वस्तुतः "एकमेवाद्वितीयम्"—उनको छोड़कर और कुछ नहीं है, और कोई नहीं है। "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति"—एक ही भगवान स्वयं सब नाम-रूप बने बैठे हैं। सारतत्त्व वाक्य-मन के अगोचर है। उसी परम सत्य तक पहुँच जाने के लिए यज्ञ की व्यवस्था है।

द्रव्यात्मक यज्ञ शुद्धिप्रधान है; भावनात्मक यज्ञ भक्तिप्रधान है—साधनभजन ध्यान-धारणा के अनुकूल है; केवलात्मक यज्ञ ज्ञान प्रधान है—यह सिद्ध पुरुष की अनुभूति है।

(१२)

पंचमहायज्ञ

प्राचीन यज्ञ व्यवस्था एक अति उन्नत धर्मानुष्ठान था किन्तु काल के प्रभाव से उसमें बहुत मलिनता आ गयी। भगवान बुद्ध के जन्म के पूर्व यज्ञक्रिया केवल एक बाह्य शुष्क अनुष्ठान में पर्यवसित हो गयी थी। बुद्धदेव ने इसका पुनरुद्धार किया। तब से लुप्त-प्राय श्रौत यज्ञ ऋणशोधात्मक कर्म (जीवसेवा, स्वार्थत्याग, मानसिक संयम) रूप में 'पंचमहायज्ञ' नाम से समाज में प्रतिष्ठित हुआ।

महाभारत और स्मृतिशास्त्र में पंचमहायज्ञ का विशेष उल्लेख पाया जाता है। अनेक श्रेष्ठ साधक पंडितों का मत है कि पंचमहायज्ञ के नित्य अनुष्ठान से अल्पाधिक परिमाण में यज्ञ के मूल उद्देश्य तक पहुँच सकते हैं!

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवबलिर्भूतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥

(१) ब्रह्मयज्ञ अथवा ऋषियज्ञ—जो ऋषि और पण्डितगण ज्ञान के नये-नये तत्त्व आविष्कार कर गये हैं, उस ज्ञान का बहुल प्रचार कर एवं उनके प्रदर्शित पथ का अनुसरण कर उन महापुरुषों की श्रद्धा और पूजा करनी चाहिए। श्रद्धा सहित स्मरण एवं भगवान से उनके लिए प्रार्थना कर हम ऋषि ऋण से मुक्त होते हैं।

(२) पितृयज्ञ—श्राद्ध, तर्पण, सुसन्तान उत्पादन द्वारा वंश के गौरव की रक्षा और वृद्धि कर पितृ-ऋण से मुक्ति लाभ करना होगा। माँ-बाप के प्रति हमारे ऋण का किसी प्रकार भी शोध नहीं हो सकता तब भी उनके प्रति कृतज्ञ रहना एवं भगवान से उनकी सुख-शान्ति के लिए प्रार्थना कर हम कुछ थोड़ी सी मात्रा मे पितृऋण का शोध कर सकते हैं।

(३) दैवयज्ञ—देवगण भगवत्-प्रतिबिम्ब हैं, समष्टिभूत जगत के विभिन्न तत्त्वों में अधिष्ठित भगवत्-चैतन्य हैं। उनके व्यष्टिगत भाव से हमारे देहस्थ विभिन्न तत्त्व उत्पन्न हुए हैं, जैसे सूर्य से हमारी आँख, चन्द्र से मन, इत्यादि। प्राचीन ऋषि दिखा गये हैं कि हवन आदि क्रिया से समष्टिभूत चैतन्य रूप देवता तृप्ति लाभ करते हैं। देवगण स्वयं तृप्ति लाभ कर हमारे कल्याण

साधन में तत्पर होते हैं। देवताओं की तृप्ति हमारे स्वास्थ्य, आयु, सुख की वृद्धि में सहायक है।

(४) **भूतयज्ञ**—प्राचीन ऋषिगण बता गये हैं कि जीव-मात्र वेश धारण किया हुआ शिव है। इसलिए पशु-पक्षी, वृक्ष-लता, आदि सब की सेवा भगवान की सेवा के अन्तर्गत है—भगवान तृप्ति लाभ करते हैं।

(५) **नृयज्ञ**—स्वधर्म पालन द्वारा देश और सर्वजीव की उन्नति एवं शान्ति में सहायक होना। अतिथि सेवा को नृयज्ञ कहा गया है।

सारांश—हम एक-दूसरे की सहायता के बिना किसी प्रकार भी उन्नति नहीं कर सकते—जीवित भी नहीं रह सकते। इसलिए हम सब के प्रति ऋणी हैं। जिनके द्वारा उपकृत हैं उनका कल्याण साधन करना एकान्त आवश्यक है। ऋषियज्ञ के अभाव से हमारा ज्ञान कूपबद्ध, उन्नतिहीन, श्रीहीन हो गया है। पितृयज्ञ के अभाव से हम सभ्यता के आदर्श ऋषियों की सन्तान होते हुए भी पदानत और लांछित हैं। देवयज्ञ के अभाव से हम स्वास्थ्यहीन, आयुहीन, अन्नहीन, व्याधिग्रस्त हो गये हैं। भूतयज्ञ के अभाव से हम दही-दूध-घी अन्नादि की कमी के कारण दुर्बल, रुग्ण अल्पायु एवं स्वधर्म-पालन में असमर्थ हैं। नृयज्ञ के अभाव से हम चिन्ता-भय-दुःख-हताश भाव से परिपूर्ण हैं।

ऋषियज्ञ अब केवल अर्थकरी विद्या-उपार्जन हो गया है। पितृ-यज्ञ कुलीनों के हिंसा-द्वेष एवं श्रद्धारहित आडम्बरपूर्ण श्राद्धादि में पर्यवसित है। दैवयज्ञ लोगों को दिखाने की बाह्य पूजा रह गयी है। धनियों और पदाधिकारियों की तुष्टि करना आजकल का नृयज्ञ है। भूतयज्ञ कुत्ते और Pet animals के पालने में रह गया है।

(१३)

पुरुषमेध और नरमेध यज्ञ

'पुरुष'—जो पुरी में, समष्टि देह में शयित, लीलारत हैं। 'नर'—जो व्यष्टि देह में अवस्थित हुआ कर्तृत्व-भोक्तृत्व अभिमान के वश हुआ कर्मफल भोग करता है। पुरुष कर्म करते हैं स्वरूप में स्थित होकर 'आनन्दप्राचुर्यात्' और नर कर्म करता है स्वरूप विस्मृत होकर 'अभावात्'। 'मेध'—उस क्रिया का नाम है जो पहले तो अविभक्त को लीला के बहाने विभक्त हुआ सा दिखाती है, हवनीय द्रव्यादि रूप में परिणत करती है और अन्त में आहुति के द्वारा पुनः अविभक्त रूप में उपलब्धि कराती है। सुतरां, 'पुरुषमेध' का अर्थ हुआ 'पुरुष का अपने स्वरूप को त्याग कर, समस्त त्रिपुटी के द्वारा, जीवजगत रूप में परिणति या विवर्तन (Paradise Lost) और 'नरमेध' का अर्थ हुआ 'जीव का सब आगन्तुक मलिनता दूर कर, सब द्वैतभाव को अद्वैत तत्व में आहुति देकर, अपने प्रकृत स्वरूप की पुनरुपलब्धि (Paradise Regained)। दार्शनिक भाषा में—निर्गुण, निष्क्रिय, अव्यक्त, अविभक्त, असीम, निराकार परमात्मा का सगुण, सक्रिय, व्यक्त, विभक्त; ससीम साकार रूप में परिणति या विवर्तन का नाम है 'सृष्टि'—इसी का नाम है पुरुषमेधयज्ञ।

जीव का यज्ञ भगवान के यज्ञ का अनुकरण है। पुरुष ने अपने आपको उत्सर्ग किया अपने को प्रकाश करने के लिए, आस्वाद करने के लिए, आस्वाद कराने के लिए—आनन्दप्राचुर्यात्। पुरुष करते हैं यज्ञ और जीव करता है कर्मभोग। इस कर्मभोग को यज्ञ में परिणत करना, जीव के कर्म को शिव के कर्म में परिणत करना,

नरमेध यज्ञ का उद्देश्य है। निराकार का आकार ग्रहण, निर्गुण का सगुण रूप में आत्मप्रकाश 'पुरुषमेध' यज्ञ है। और जीव का आकार के भीतर से निराकार को ढूँढ़ निकालना, सगुण के भीतर निर्गुण को धर लेना 'नरमेध' यज्ञ है।

'एक' का 'बहु' होना, अविभक्त का विभक्त होना, कारण का कार्य में परिणत हो जाना, 'तत्' का 'त्वं' रूप में प्रकाशित होना 'पुरुषमेध' यज्ञ है एवं 'बहु' में 'एक' की उपलब्धि, विभक्ति में अविभक्त का आस्वादन, कार्य का कारण में पर्यवसान, 'त्वं' पदार्थ में 'तत्' की उपलब्धि 'नरमेध' यज्ञ है। पुरुषमेध द्वारा स्वर्गीय पिता ईसा पुत्र रूप में परिणत हुए और नरमेध द्वारा ईसा क्षुद्र अहं को आहुति देकर, व्यापक अहं में, अपने पिता में विवर्तित होगये। इसीलिए कहा गया—"Be perfect as your Father which art in heaven is perfect; I and my Father are one," इसीलिए हमारे स्वर्गस्थ पिता जीव का दुःख मोचन करने के लिए, जीव को अपने आनन्दधाम में ले जाने के लिए, स्वयं अवतार रूप में, पुत्ररूप में जगत में आविर्भूत होते हैं—यही उनका यज्ञ है। हमारा यज्ञ होगा उनके शिक्षा-उपदेश अनुसार चलना, अपने क्षुद्र अहं, कल्पित कामना-वासना, आदि समस्त जागतिक संस्कारों को त्याग कर उनके साथ आनन्दधाम में चले जाना।

"Crucify thy lower self for the manifestation of the higher self"—तुलनीय।

———

वेदान्त में यज्ञ

वेदान्त वेद का अन्त अर्थात सार भाग है। वेदान्त में ब्रह्म का द्विविध रूप में उल्लेख मिलता हैं—जैसे "द्वेवाव ब्रह्मणो रूपे सगुणो निर्गुणश्च —क्षरश्चाक्षरश्च"। भगवान का एक रूप है— निर्गुण-निष्क्रिय-निरंजन-असीम-अव्यक्त-अनन्त, इत्यादि। दूसरा रूप है सगुण-सक्रिय-साकार-ससीम-व्यक्त-सान्त। तात्विक दृष्टि से दोनों ही ठीक हैं; जो असीम अव्यक्त है वे ही सीमित होकर अपने आपको व्यक्त करते हैं। अगर ऐसा न करते तो कोई उनको जान-समझ ही न पाता। तंत्रशास्त्र (Kashmir Shaivism) भी शिव के वक्षःस्थल पर विमर्श शक्ति के आकुंचन और प्रसारण की वर्णना में मग्न है। प्रेमिक साधुगण उनका उभयात्मक लीला-रस आस्वाद करते हैं। जो निर्गुण तत्त्व में मग्न है वे भगवान के लीला रहस्य—यज्ञतत्त्व को न मानने पर भी इसको चित्त शुद्धि में सहायक मानते हैं, इसमें सन्देह नहीं। जो भगवान के उभय तत्त्वों के रसज्ञ हैं उनके भीतर ही प्रकृत यज्ञतत्त्व का प्रभाव देखने में आता है।

अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे।
समं तत्त्वं न जानन्ति द्वैताद्वैतविवर्जितम्॥

वस्तुतः प्रकृत तत्त्व न द्वैत में सीमित है न अद्वैत में— "त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्"—गीता ११।३७। उपनिषत् और वेदान्त ग्रन्थ सकाम द्रव्यात्मक यज्ञ के विरोधी होने पर भी चित्त शुद्धि में सहायक निष्काम भावनात्मक यज्ञ को मानते हैं, जैसे—

"द्वे आहुती जुहोत्येते अग्निहोत्रविधाननः। ममतां प्रथमं हुत्वा अहन्तां जुहुयात्ततः"—बोधसार। इस प्रकार के और भी अनेक वाक्य वेदान्त ग्रन्थों में मिलते हैं।

(१५)
गीता में यज्ञ

गीता में ज्ञान, कर्म, भक्ति का एक अपूर्वसमन्वय देखने में आता है। ज्ञान की प्रधानता को स्वीकार करके, ज्ञान को कर्म का चालक रूप में ग्रहण करके गीताकार की सर्वाधिक दृष्टि इस तत्त्व की ओर है कि अनासक्त फलाकांक्षावर्जित यज्ञार्थ भगवत्-प्रीत्यर्थ जीवहितकारी कर्म बन्धन का कारण नहीं, मुक्ति का साधक है।

गीता में अनेक जगह यज्ञ की आलोचना है। देखो गीता ३।९-१५, ४।२३-३३, ९।१५-२७, १८।३-५। यज्ञ अनादि; यज्ञ उन्नति में सहायक, कल्याणसाधक। यज्ञ ही कर्म है—जगत में एक कर्मचक्र चल रहा है। कर्म के बिना यज्ञ नहीं हो सकता। भगवान स्वयं कर्म कर रहे हैं—गीता ३।२२-२४। विविध यज्ञों में ज्ञानयज्ञ की श्रेष्ठता बताई गयी है। सात्विकादि त्रिविध अधिकारियों के लिए त्रिविध यज्ञ का विधान किया है। यज्ञ विशेषरूप से चित्तशुद्धि में सहायक है। स्वधर्मपालन पर गीताकार ने बहुत जोर दिया है और इसको यज्ञ की श्रेणी में रखा है (देखो श्लोक १८।४५-४६)। 'यज्ञ' शब्द का गीता में बहुत व्यापक अर्थ है—कर्ममात्र यज्ञ है किन्तु जीव के लिए भगवत् प्राप्ति के अनुकूल कर्म ही यज्ञ है। यज्ञ, पूजा, उपासना, आराधना, साधन भजन—समानार्थक हैं।

महाभारत ने पशुहिंसात्मक यज्ञ के बदले दान, ध्यानादि द्वारा यज्ञ करने का विधान किया है (शान्तिपर्व)। दान, सत्य, दया, अहिंसा, सर्वभूतहित-साधन को यज्ञ माना गया है। संसार परिचालना के लिए होमादि द्वारा दैवयज्ञ एवं जीव सेवा के लिए अनासक्त फलाकांक्षारहित सेवा यज्ञ विहित हुआ। ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मज्ञान का प्रचार कर ऋषियज्ञ करते। योगी यम-नियम-प्राणायामादि द्वारा इन्द्रिय संयम रूप यज्ञ में मग्न रहते। कोई विषय के द्वारा विषयी का ध्यान करने की चेष्टा करते। ध्यानी इन्द्रिय-प्राणादि की क्रिया को निरोधकर आत्मा में समाहित होने की चेष्टा करते। कोई आहारादि का संयमपूर्वक योगाभ्यास करते। गीता में यह सब साधनाएँ यज्ञ के अन्तर्गत हैं। मंत्र पढ़ के अग्नि में केवल घृताहुति देना यज्ञ नहीं है। पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ही एकमात्र यज्ञेश्वर हैं—उन्हीं को अधियज्ञ कहा गया है (गीता ८।४)।

यज्ञ आत्मसमर्पण करने की शैली है। गीता में साधारणतः पाँच प्रकार के यज्ञ कहे गये हैं—द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याय एवं ज्ञानयज्ञ (गीता ४।२८)। भगवान को द्रव्य अर्पण करने का अर्थ है द्रव्य के ऊपर से अपने ममत्व, मिल्कियत को दूर करना—सब भगवान का है। तपोयज्ञ से आगन्तुक मलिनता दूर हो जाने पर चित्त अपने स्वरूप की ओर आकृष्ट होता है। तब हम उन्हीं के हैं, उनकी शक्ति से शक्तिमान हैं—इस तत्त्व की उपलब्धि कर उनके साथ युक्त रहने की चेष्टा योगयज्ञ है। जपयज्ञ इसी के अन्तर्गत है। इसके बाद स्वाध्याय यज्ञ में हम 'स्व' को अपने आत्मा को जानकर एक परम अखण्ड सत्ता का सन्धान लाभ करते हैं। गीता जीवन को यज्ञमय बना देती है। सारांश यह है:—

(१) पहले कहा कर्ममात्र यज्ञ है।

(२) फिर बताया कि भगवत् प्राप्ति के अनुकूल कर्म यज्ञ है।

अनासक्त फलाकांक्षारहित होकर, भगवत-इच्छा पूर्ण करने के लिए, जीव के कल्याण साधन के लिए सब कर्म यज्ञ के अन्तर्गत हैं।

(३) नियत कर्म अर्थात स्वधर्म पालन (जिस कर्म को करने के लिए भगवान ने हमको संसार में भेजा है) यज्ञ है। (गीता ३।३५; १८।४७)

(४) जीव सेवा अथवा लोक संग्रह की चेष्टा यज्ञ है।

(५) त्यागात्मक कर्म (Sacrifice) यज्ञ है। त्याग के बिना समाज नहीं ठहर सकता। समाज शास्त्रज्ञों का कहना है कि दूसरों को स्वतंत्रता देने के लिये अपनी स्वतंत्रता को परिमित, नियमित करना होगा। यज्ञ (अपनी स्वतंत्रता रूप स्वार्थत्याग) किये बिना लौकिक व्यवहार नहीं चल सकता। यज्ञ (त्याग) ही समाज रचना का मूलधार है। हम संसार के सब जीव एक दूसरे के लिए त्याग करें; सब जीव मिलकर देवताओं के लिए त्याग करें और देवता सब जीवों के लिए त्याग करें—हमारे सब तत्त्वों को अपने भाव और शक्ति से भरपूर करें। इसी शैली से जगत-चक्र सुन्दर रूप से चल सकता है (गीता ३।१०-१२)।

गीताकार का त्याग की ओर—स्वधर्म पालन की ओर प्रधान लक्ष्य है।

तंत्र (शैव) मत में यज्ञ

'तंत्र' शब्द तन् धातु से बनता है। 'तन्' का अर्थ है 'विस्तार'। तंत्र सत्य की विस्तार पूर्वक व्याख्या करता है और अर्थ के द्वारा विभूति के द्वारा प्रकृत तत्त्व को हृदयंगम करने में सहायता करता है। तंत्र का एक और नाम 'आगम' है, शिव-शक्ति रहस्य। तान्त्रिकगण वेद के भांति तंत्र को अपौरुषेय मानते हैं। जीव के परम कल्याण के लिए स्वयं शिवजी ने इसका प्रचार किया। वेदान्त की तरह तंत्र में भी अद्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, आदि विभाग हैं। द्वैतवादी तंत्र में द्रव्यात्मक यज्ञ का, विशिष्टाद्वैत और द्वैताद्वैत तंत्र में भावनात्मक यज्ञ का एवं अद्वैतवादी तंत्र में केवलात्मक यज्ञ का आभास मिलता है। तंत्रशास्त्र बताता है कि हम किस प्रकार सुन्दर और स्वाभाविक रूप से चरम सत्य तक पहुँच सकते हैं। 'पूजातत्त्व' पुस्तक में यंत्र-तंत्र-मंत्र रहस्य देखिये। तंत्र के पशवाचार को शुद्धिप्रधान द्रव्यात्मक यज्ञ के भाव का, वीराचार को भावनात्मक यज्ञ के भाव का और दिव्याचार को केवलात्मक यज्ञ के भाव का निदर्शन कहा जा सकता है। तंत्र में वैदिक भाव का प्रभाव अधिक मात्रा में दृष्ट होता है किन्तु वैदिक भाव की अवनति के साथ जो सीमाबद्ध साम्प्रदायिक भाव आ गया था तंत्र ने उसका विरोध किया।

तंत्र में योग का प्रभाव भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। मूलाधार में द्रव्ययज्ञ, मणिपुर में तपोयज्ञ, अनाहत में भावनात्मक यज्ञ, आज्ञाचक्र में ज्ञानयज्ञ और सहस्रार में केवलात्मक यज्ञ के अनुष्ठान की व्यवस्था है। अन्यत्र, मूलाधार में पाद्य, मणिपुर में

अर्ध्य, अनाहत में धूप, आज्ञाचक्र में दीप और सहस्त्रार में नैवेद्य अर्पण करने का उल्लेख मिलता है।

मनुष्य देह के विभिन्न तत्त्वों में भगवनलीला दर्शन करना ही यज्ञ का उद्देश्य है। हमारी आँखों के भीतर से उनका प्रकाश है हमारा देखना, हमारे कानों के भीतर उनका प्रकाश है हमारा सुनना, हमारे चित्त के भीतर से उनका प्रकाश है हमारा आनन्द, हमारी बुद्धि के भीतर से उनका प्रकाश है हमारा ज्ञान, इत्यादि। "श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो" इत्यादि श्रुति इसकी साक्षी हैं। संसार एक कल्पित अहंकार का प्रभाव है। यह वृथा अभिमान दूर करना ही यज्ञ का उद्देश्य है, इसीलिए यज्ञको त्यागात्मक कहा गया है।

अग्नि द्वारा हवनीय द्रव्य को शुद्धकर एवं क्रमानुसार रक्त, वीर्य, ओजस और सुधा में परिणत कर उस सुधा को शिव को अर्पण करने की व्यवस्था तंत्र में है। तंत्र में ब्रह्म के अवरोहणरूप यज्ञ में पुरुषमेध यज्ञ का और जीव के आरोहण रूप यज्ञ में नरमेध यज्ञका आभास मिलता है। इसका अपभ्रंश बलि प्रथा के रूप में बाद को समाज में आ गया।

जगत में गीता और तन्त्र का दान अतुलनीय है।

(१७)

वर्तमान कालोपयोगी यज्ञ

यज्ञ जब मनुष्य के कल्याण साधन में, भगवत प्राप्ति में इतना सहायक है तो सबको यज्ञ का प्रकृत स्वरूप समझा कर यज्ञकी ओर आकृष्ट करना एवं सबके लिए यज्ञ को सुगम बनाना अत्यावश्यक है। पहले तो यह समझना होगा कि यज्ञ क्या है, क्यों

किया जाता है, यज्ञ से क्या प्रयोजन साधित होता है, यज्ञ चित्त-शुद्धि में, उन्नति में, कल्याण में, भगवत्-प्राप्ति में किस प्रकार सहायक है।

वर्तमान समय में यज्ञ इस प्रकार होना चाहिए जिससे लोगों के वर्तमान उद्देश्य सिद्ध हों, शरीर का स्वास्थ्य-सामर्थ्य बढ़े, मन ज्ञान-प्रेम से भरपूर हो, समाज, देश, जीवमात्र की उन्नति हो, सबको शान्ति मिले, जिसमें खर्च कम हो और समय भी ज्यादा न लगे, जिसके अनुष्ठान से सब आनन्द पाँय और लोग यज्ञ करने को लुब्ध हों।

यज्ञ इस प्रकार अनुष्ठित होना चाहिए जिससे हवा शुद्ध हो, चित्त में सद्भाव जागरित हों, सबके अशान्ति-अभाव दूर हों, जो एकता-वर्धक, कल्याणसाधक, मुक्तिदायक हो। उद्देश्य ठीक रहे किन्तु बाहुल्य, विकृति और आडम्बर का वर्जन करना चाहिए। यज्ञ में दो-तीन होता और एक अग्नि रक्षक (ब्रह्मा) रहें।

यज्ञ आरम्भ करने के समय भगवत् शक्ति के अवतरण के लिए समवेत प्रार्थना करनी चाहिए—'आविरावीर्म एधि'। इड़ा की जगह मीठा पिष्टक और सोम की जगह दुग्धादि व्यवहार करना चाहिए। इड़ा और सोम यजमान के पशु के प्रतीक हैं। यज्ञाव-शेष प्रसाद सबको मिलकर खाना चाहिए और उस समय एकतावर्धक "संगच्छध्वं संवदध्वं" सबको मिलकर पाठ करना चाहिए।

श्रीस्वामीजी ने लिखा है—"इस यज्ञविधि और व्याख्या में यज्ञ की उपकारिता का सामान्य आभास दिया गया है। समय और शक्ति के अभाव से इसमें अनेक अभाव-त्रुटि रह गयी हैं। आशा करता हूँ कृपालु पाठकगण इसे शुद्ध करके सुन्दर आकार देने की चेष्टा करेंगे।"[1]

यज्ञ के अनुष्ठाता—ऋत्विक् एवं अध्वर्यु

यज्ञ के अनुष्ठानकारियों को विशेपरूप से शुद्ध-संयत होकर नियम-निष्ठा पालन पूर्वक, यज्ञानुष्ठान के लिए तैयार होना चाहिए। जिनके ऊपर जिस काम का भार हो उनको उस प्रकार के भाव से परिपूर्ण होने की चेष्टा करनी चाहिए।

यज्ञ के प्रधान अनुष्ठाताओं के नाम :—

(१) अध्वर्यु—इनका काम है वेदी के ऊपर कुशादि को बिछाना, पुड़ोडाश तैयार करना, अग्नि संरक्षण।

(२) ऋत्विक्—यजमान का प्रतिनिधि, प्रकृत यज्ञकर्ता। येही होंगे मूर्तिमान यज्ञ। इनके वचन, भाव और कार्य प्रकृत यज्ञतत्व को प्रकाश करेंगे। यजमान यदि असमर्थ हो तो ऋत्विक् द्वारा यज्ञ कराने की व्यवस्था है।

(३) होता—इनका काम हैं देवताओं को आह्वान करना। अग्नि स्वयं देवताओं के होता, मुखस्वरूप हैं; सुतरां होता को अपने सब तत्त्वों को अग्नि देवता की भावना से तन्मय करना होगा।

(४) ब्रह्मा—ये वेदमन्त्रों के सुपारग होंगे। इनका काम है देखना कि तात्त्विक दृष्टि से सब काम ठीक से हो रहा है।

(५) उद्गाता—यज्ञ के समय सामगान करते हैं।

(६) यजमान—ये हैं यज्ञ के प्रधान अनुष्ठाता—यज्ञ के पशु। "यजमानो वै पशुः"। ये बहुत दिनों से यज्ञरहस्य का चिन्तन करके शुद्ध हो गये हैं। अब भगवान के आगे अपने-आपको आहुति देकर, पूर्ण आत्मनिवेदन द्वारा देवत्व लाभ करते हैं।

अग्नितत्त्व

अग्नितत्त्व ब्रह्मतत्त्व है। जो शक्ति संचार करते हैं, समस्त शक्ति के मूलाधार (Power House) हैं, जो जीवन दान करते हैं, जो सत्ता-चैतन्य-आनन्द के वर्धक हैं, भगवत् प्राप्ति में सहाय हैं वे ही अग्नि हैं। ये वेद के अन्नाद अथवा प्राण तत्त्व हैं। अग्नि का मुख्य अर्थ है ब्रह्म, गौणतः विभिन्न तत्त्वों में अधिष्ठित देवता अथवा ब्रह्म का प्रकाश। सहस्रार में अग्नि ब्रह्म हैं, आज्ञाचक्र में भर्ग, अनाहत में प्राण, मणिपुर में वैश्वानर, मूलाधार में स्थूल अग्नि। पंचाग्नि पंचचक्र में, पंचकोष में, अवस्थित प्राणशक्ति है। द्रव्यात्मक, भावनात्मक और केवलात्मक यज्ञ की आहुतियाँ प्रतीक स्थूल अग्नि, सूक्ष्म प्राणाग्नि और कारण आत्माग्नि का रहस्य प्रकाश करती हैं। अग्नि देवताओं के दूत, बाइबिल के Holy Ghost, पुराणों के नारद ऋषि हैं। अग्नि के आवाहान का अर्थ है सब केन्द्रों को अग्नि के आविर्भाव द्वारा अग्निमय, शक्तिमय, ब्रह्ममय बना लेना। अर्थात् नेति-नेति साधना द्वारा सहस्रार में जाना, वहाँ पहुँचकर अग्नि के प्रकृत स्वरूप का अवधारण करना और उसके बाद अग्नि को नीचे सब तत्त्वों में लाकर तद्भाव से परिभावित करना—तुलनीय Sri Arvind's Descent of the Divine। हवन के कुण्ड वस्तुतः देहस्थित विभिन्न चक्र हैं। यज्ञ में अग्नि के साथ सर्वदा सोम का संबन्ध देखने में आता है। वेद के अधिकांश मंत्र अग्नि और सोम, प्राण और रयि, अन्नाद और अन्न तत्त्व से पूर्ण हैं। शुद्ध सोम अमृतरूप में परम देवता अग्नि की तृप्ति विधान करते

हैं। विविध परिणाम-प्राप्त सोम देह के विभिन्न चक्रों में अवस्थित विभिन्न अग्नि देवताओं को तृप्त करते हैं। अग्नि देवताओं के मुख हैं।

अग्नि का काम है अर्पित द्रव्य को शुद्ध कर ऊपर पहुँचा देना। मूलाधार में अवस्थित अग्नि द्रव्य को रस में परिणत कर मणिपुर में पहुँचा देती है। मणिपुरस्थ अग्नि रस के सार अंश को रक्त में परिणत कर ऊपर अनाहत में प्रेरण करती है। अनाहतस्थ अग्नि रक्त को वीर्य में परिणत कर ऊपर विशुद्धाख्य में भेज देती है। विशुद्धाख्य में अग्नि वीर्य को ओजस् में परिणत कर आज्ञाचक्र में ले जाती है। आज्ञाचक्रस्थ अग्नि वीर्य को सुधा अर्थात् शुद्ध सोम में परिणत कर सहस्रार में पहुँचा देती है। वहाँ यह सोम भगवान को अर्पित होता है और फिर नीचे की तरफ क्षरित होता है। अवतरणक्रम में सब चक्रस्थ देवताओं को तृप्त करता हुआ अन्नमय कोश में आता है। यहाँ अगर सुरक्षित रहे तो साधक को प्रचुर शक्ति, वीरता, ज्ञान, आनन्द दान करता है। यज्ञ द्वारा द्रव्य को सोम में परिणत कर देवताओं को तृप्त करने का विधान है और देवगण स्वयं तृप्त होकर जीव को तृप्त करने के लिए तत्पर होते हैं। हम अग्नि की सहायता से देवताओं को तृप्त करते हैं और देवगण सोम की सहायता से जीवजगत की तृप्ति विधान करते हैं। यह ब्रह्मयज्ञ अथवा भगवल्लीला अज्ञात रूप में दिन-रात हमारे भीतर हो रही है। साधना द्वारा अन्तर्दृष्टि खुल जाने पर इस तत्त्व की उपलब्धि होती है। तब अग्नि का आवाहन नहीं करना पड़ता।

— ———

हवनीय द्रव्य

वेद में सब तत्त्व अन्न और अन्नाद, रयि और प्राण, 'इदं' और 'अहं' अर्थात् भोग्य और भोक्ता, इन दो भागों में विभक्त हैं। अन्नाद वे हैं जो अन्न को भोग करते हैं। मुख्य अन्नाद स्वयं परमात्मा हैं। अपने आनन्द को स्वयं आस्वाद करने के लिए उन्होंने सृष्टि की। उनके अतिरिक्त जो कुछ है सब अन्न अर्थात् हवनीय द्रव्य है। परमात्मा के लिए सर्वश्रेष्ठ अन्न आत्मा है, उसके बाद चित्त, अहंकार, बुद्धि, मन, प्राण, देह इत्यादि। अर्थात् जो कुछ भी हम अपना समझते हैं वह सब उनका अन्न है। सुतरां, हमारे आत्मीय स्वजन, देह, गेह, इत्यादि आत्मा तक उनको समर्पण कर देने से हमारे जीवन की परम सार्थकता साधित हो जायगी। "सर्वं त्वदीयं इति मे प्रियमेव सर्वं त्वत् प्रीतये सततमेव नियोजयानि।"

उपर्युक्त कथन से सिद्ध हुआ कि हवनीय द्रव्य हैं (१) मुख्यतः यजमान स्वयं। वह अपने जीवन को आदर्शरूप में तैयार करके भगवत कार्य में, जीव की सेवा में उत्सर्ग करता है। (२) गौणतः, वह अपने सब प्रियजनों और अपने सब प्रिय भोग्य पदार्थों को शुद्ध कर भगवान को निवेदन करता है।

तात्त्विक हवनीय द्रव्य हैं:—

(१) ज्ञानयज्ञ के लिए—अविद्या, अध्यास, कामना, वासना, आसक्ति, मन की कल्पना; त्रिविध एषणा, समस्त इदं पदार्थ (Phenomenon); व्यष्टि आत्मा।

(२) भावनात्मक यज्ञ के लिए—सब व्यष्टि-समष्टि तत्त्व, उनकी क्रिया में भगवत् लीला दर्शन करना, सत्य और प्राण-प्रतिष्ठा के समस्त उपकरण ।

(३) द्रव्यात्मक यज्ञ के लिए आवश्यक पदार्थों की सूची पुस्तक के अन्त में है ।

(२१)

निष्क्रय तत्त्व

निष्क्रय का अर्थ है एक के बदले दूसरे को अर्पण करना। भगवान जगत सृष्टि करके उसमें प्रवेश कर गये। सब तत्त्वों तथा द्रव्यों में वे अधिष्ठात्री देवतारूप में बैठे लीला कर रहे हैं। भगवान के विभिन्न तत्त्वों में, विभिन्न पदार्थों में प्रकाश का नाम है 'देवता' —इसलिए मूल में देवता एक ही हैं किन्तु वे बहुत रूपों में प्रकाशित हैं। सब देशों और सब समाजों में देवता के निमित्त स्वार्थ त्याग करना, जीवन उत्सर्ग करना सर्वश्रेष्ठ दान माना जाता है। बहुत से देशों में यह जीवन उत्सर्ग, यह चरम दान, विकृत होकर नरबलि के रूप में आ गया। प्राचीन यहूदी, ग्रीक, रोमन आदि नरबलि करते थे। भगवान के निमित्त जीवन उत्सर्ग करने में बहुत कम ही लोग समर्थ हैं। इसलिए अपने प्रियजन को, पुत्र को, दूसरे घर के लड़कों को, चुराकर या खरीद कर, खिला पिला कर हृष्ट-पुष्ट करके, बलि देने की प्रथा चल पड़ी। आजकल भी पशु की पूजा कर, देवभावापन्न कर, बलि देकर उसका मांस खाकर, देवत्व लाभ करने की चेष्टा देखने में आती है। एक के बदले दूसरे को

बलि देने की निष्क्रय प्रथा (Vicarious offering) ईसाई धर्म में भी है। ईसा ने जीव के कल्याण के लिए, जिहोबा के मन्दिर में बलि प्रथा दूर करने के लिए, अपने आप को बलि करने के लिए अर्पण किया था। ईसा थे पूर्ण मानव तथा ईश्वर। समस्त मानव जाति के प्रतिनिधि रूप में अपना जीवन दान कर उन्होंने अपने रक्त से जगत के पाप को प्रक्षालित किया। आज भी ईसाई भक्त ईसा का रक्त और मांस, मदिरा और रोटी के रूप में मन्त्र-पूत करके खाते हैं और इस क्रिया से ईसा के भाव से परिभावित होकर, निष्पाप होकर, मुक्ति लाभ करने की चेष्टा करते हैं।

एक बार आत्मदान, यथासर्वस्वदान, हिंसात्मक बलिदान में पर्यवसित हो गया ; बाद को हिंसात्मक भाव दूर करने के लिये यज्ञ को द्रव्यदान में ले आये किन्तु प्रकृत त्याग भाव रह ही गया।

सारांश यह है कि यज्ञीय द्रव्यरूप में अपने को, अपने यथासर्वस्व को भगवत् प्रीति के लिए, जीवसेवा के लिए उत्सर्ग करना होगा। त्याग ही भारतीय साधन-भजन का सारतत्त्व है—त्याग से ही अमृतत्त्व लाभ होता है ("त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः") जो द्रव्य आहुति दिया जाता है वह केवल प्रतीक, निष्क्रय, Substitute है।

(२२)

यज्ञ का पशु

जो अपने को जगत के कल्याण के लिए, भगवत प्रीति के लिए, अर्पण करते हैं वे यजमान ही यज्ञ के पशु हैं—"यजमानः वै पशु" पशुपति स्वयं पाशबद्ध होकर पशु हो गये; जीव यज्ञ द्वारा पाशमुक्त

होकर शिवत्व लाभ करे। निःस्वार्थरूप से अपना यथासर्वस्व दान कर देने से आसक्ति का बन्धन खुल जाता है और पशुत्व दूर हो जाता है। कामना-वासना-आसक्ति-सुखस्पृहा-प्रतिष्ठामोहरूपी रस्सी ने हमको पशु के न्याय संसार में जकड़ रखा है। कल्याण के इच्छुक को अपने-आपको बद्ध अनुभव कर इस पशुत्व को दूर करना होगा। परवर्ती काल में लोगों की कपटता के परिणामस्वरूप नरबलि और पशुबलि की प्रथा समाज में आगयी।

ज्ञानयज्ञ में सङ्कल्प-विकल्पात्मक अन्तःकरण ही यज्ञीय पशु हैं।

(२३)

आहुतितत्त्व

'आहुति' का अर्थ है आवाहन, बुलाना। भगवानको, भगवत्-शक्ति को, देह के प्रत्येक तत्त्व और अवयव में, मन-प्राण-बुद्धि-चित्त एवं आत्मा में आवाहन करना होगा। भगवान तो सर्व-व्यापी हैं उनको बुलाना कैसा? उनको बुलाने का अर्थ है उपलब्धि करना कि वे सब तत्त्वों में विराजमान हैं।

'आहुति' का एक और अर्थ है दे देना, निवेदन करना। प्रथमतः हवनीय द्रव्य को, पूजा के उपकरण को शुद्धकर, उनको ग्रहणयोग्य कर उसमें भगवतसत्ता उपलब्धि करना होगा। तब साधक अनुभव करता है 'ये सब द्रव्य और उपकरण मेरे नहीं हैं—न मैंने बनाये, न मेरे साथ जायेंगे। ये सब उन्हीं के हैं।' "सर्वं त्वदीयं इति मे प्रियमेव सर्वं……"। इस प्रकार के चिंतन के

फलस्वरूप देह, देह के तत्त्वों, आत्मीय स्वजनों, जगत के सब पदार्थों में निर्मम-भाव आजाता है। तब साधक सोचता है कि मेरा देना तो केवल गंगाजल से गंगा की पूजा करने के समान है सब उन्हीं का तो है। "प्रतीच्छ हे स्वस्य धनं स्वयं त्वं, किंचित् निजस्वं न हि विद्यते मे यद्दीयते त्वच्चरणे मुकुन्द:"।

आहुति दी जाती है अपने स्वामित्व और कर्तृत्व बोध की। फलतः हम निर्मम-निरहङ्कार हो जाते हैं और लाभ होती है परम शान्ति एवं भगवत् प्राप्ति।

(२४)

पूर्णाहुति

अपने को, अपने सब तत्त्वों को भगवान को समर्पण, आत्म-निवेदन करने का नाम 'पूर्णाहुति' है। जो आहुति दे रहा है उसको पूर्णत्व लाभ होजाना चाहिए, पूर्ण विकसित होजाना चाहिए—"ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः..." मंत्र सार्थक हो जाना चाहिए। पूर्णस्वरूप की उपलब्धि के लिये पहले हमें स्वयं पूर्णत्व लाभ करना होगा। तब समझ में आयेगा कि हमारा पूर्णत्व उनके पूर्णत्व के अन्तर्गत है। पूर्णत्व एक ही हो सकता है—दो पूर्णत्व नहीं हो सकते।

पूर्णता लाभ हो जाने पर हमारी इच्छा उनकी इच्छा से पृथक नहीं हो सकती। पूर्णाहुति के फलस्वरूप यजमान भगवान के विश्वयज्ञ में पूर्णतः सहाय हो जाता है। "पूर्णा भवत्वनुदिनं मयि ते शुभेच्छा"। तब यज्ञ यज्ञपति में लीन हो जाता है; आस्वादित होता है 'एकमेवाद्वितीयम्' तत्त्व।

इड़ा, सोम एवं हविःशेषभक्षण

इड़ा—अदिति, सरस्वती, वाग्देवी अर्थात भगवान की इच्छा, ज्ञान और क्रियाशक्ति। इड़ा को भक्षण करके अर्थात ब्रह्मविद्या को आत्मस्थ करके देवमय होजाने की विधि है। ईसाई मत में इड़ा ईसा का रक्त-मांस अर्थात स्वयं ईसा है जिसको खाकर साधक देवत्व लाभ करता है। मृत्यु के एक दिन पहले रोटी काटते समय (Breaking of the Bread) ईसा ने कहा—"This is my body which is broken for many for remission of sins......I am the bread of life. He that eateth my flesh and drinketh my blood dwelleth in me and I in him. Except ye eat the flesh of the son of man, drink his blood ye have no life in you. Whoso eateth my flesh and drinketh my blood has eternal life" ईसा के मांस भक्षण और रक्तपान का अर्थ है ईसा के तुल्य देह-मन-प्राण-बुद्धि लाभ करना। वेद का इड़ा और सोम पान, पूजा का प्रसाद खाना, यज्ञतत्त्व आत्मस्थ करना, तद्भाव से भावित होना, तन्मयता लाभ करना—ये सब समानार्थक हैं। व्यवहारिक दृष्टि से इड़ा है यज्ञीय पशु, पुड़ोडाश, यज्ञीय प्रसाद।

सोम—सुधा, सहस्रार विगलित सुधा, ब्रह्मज्ञान—जो सब तत्त्वों को आप्यायित करता है। यह सोमरूप अमृत अथवा शोधित सुरा प्रायः सभी देशों में साधना में व्यवहार होता था। ईसाई यज्ञ

में यह मदिरा (सुरा) ईसा के रक्त का प्रतीक है। सोम पान द्वारा हमारे पाप क्षय हो जाते हैं, अमृतत्त्व लाभ होता है। "अपाम सोमं अमृतां अभूम्"। सोमपान के मन्त्रों से मालूम होता है कि तात्त्विक रूप से सोम अमृत है और व्यवहारिक दृष्टि से अमृतकल्प कोई पानीय द्रव्य।

हविःशेषभक्षण—यज्ञीय पुड़ोडाश-भक्षण यज्ञ का अङ्ग-विशेष है। यजमान अपने को, अपने सब द्रव्यादि को भगवान को अर्पण कर, स्वयं भगवद्भाव से परिभावित होकर, भगवत् प्रिय कार्य साधन में, जीव सेवा के लिय, अपना जीवन उत्सर्ग करता है। अब उसका अपना निजस्व कहकर कुछ नहीं रहा—उसके पास जो कुछ है उसपर सर्वसाधारण का अधिकार है।

यज्ञ द्वारा यजमान के आत्मा, बुद्धि, मन, प्राण, देह एवं सब द्रव्यादि भगवान के हो जाते हैं। तब ये सब जीव की सेवा में, भगवान के प्रीतिवर्धक कार्य में लगाये जाते हैं, अपने स्वार्थ के लिए अथवा कामना-वासना की तृप्ति में लगाने का अधिकार नहीं रहता। यज्ञ द्वारा सर्वत्र भगवद्दर्शन होजाने के फलस्वरूप सबको अपने आत्मा की विभूति के रूप में दर्शन करना ही वस्तुतः यज्ञ का शेष-भाग और सारतत्व अर्थात् अमृत है। आजकल तो यह केवल कुछ भक्ष्य पदार्थ देवता को अर्पण करके सब मिलकर प्रसाद भक्षण के रूप में ही रह गया है।

हविः और सोम पान का मन्त्र है—"अपाम सोमं अमृतां अभूम् आजग्म ज्योतिरविदाम देवान्"। अर्थात हम यज्ञावशिष्ट सोम पान करके अमर होगये, ज्योति लाभ करली, देवताओं को प्राप्त होगये, देवमय होगये।

हविःशेषभक्षण एक प्रतीक (Symbol) है। यह बताता है कि समाज में हमको किस प्रकार चलना चाहिए, जीवन में किस

उद्देश्य के लिये व्रती होना चाहिए। ऊपर देवताओं में एकत्व अनुभव करना एवं नीचे जीवों में एकता स्थापन करना, एकत्वानुभूति लाभ करना हविःशेषभक्षण का उद्देश्य है।

हविःशेष—यज्ञ का सारभाग, यज्ञतत्त्व, यज्ञ का, पूजा का समस्त फल, उद्देश्य व तत्त्व।

भक्षण—आत्मस्थ करना, अपने सब तत्वों को तद्भाव से से परिभावित करना, यज्ञपुरुष से तन्मयता लाभ करना।

अपने समस्त कर्म और ज्ञान की अनुभूति को जन-साधारण के सेवा में लगाकर जीवन सार्थक करना हविःशेषभक्षण का गूढ़ार्थ है।

————

हवन विधि

(१) विष्णुस्मरण

हवनादि सब शुभ कार्यों में पहले विष्णुस्मरण किया जाता है। यह चित्तशुद्धि में सहायक है। 'विष्णु' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है :—"वेवेष्टि व्याप्नोति विश्वम् इति विष्णुः"। जो सब भूतों में विराजमान हैं, उन्हीं का नाम विष्णु है। अथवा "विष्णाति वियुनक्ति भक्तान् मायापसारणेन संसारात्—इति विष्णुः"। जो माया का परदा हटाकर भक्तों को संसार से मुक्त कर देते हैं, वे ही विष्णु हैं। भगवान सर्वशक्तिमान, सर्वान्तर्यामी, सर्वभूतान्तरात्मा, सब जीवों के परमात्मीय और सबके माता-पिता हैं। जीव जगत उन्हीं की मूर्त्ति है। इसलिये जीव का सेवा शिव की सेवा है, जीव को कष्ट देने से शिव को कष्ट होता है। वे किसी का अत्याचार-दुर्व्यवहार सहन नहीं करेंगे; सब हमारे माँ, बाप, भाई, बहिन हैं— यह भाव जागृत हो जाने पर किसी के प्रति द्वेप भाव नहीं रहता, चित्त अपने आप ही शुद्ध हो जाता है।

ॐ तत्सत्। ॐ विष्णुः ॐ विष्णुः ॐ विष्णुः ॥ १ ॥

इस मंत्र के साधन में ॐ उच्चारण करके चित्त को मूलाधार से, अकार-उकार-मकार भेद करते हुए, अर्धमात्रा के निकट, सहस्रार में ले जाना चाहिए। वहाँ भगवान के वाक्य-मन के अतीत निर्गुण-निष्क्रिय-निरंजन-ज्योतिर्मय स्वरूप की उपलब्धि

करनी चाहिए। इसके बाद चित्त को धीरे-धीरे नीचे उतारते हुए सब तत्त्वों को भगवद्‌भाव से परिभावित और जीव-जगत की "ईशावास्य" सत्-रूप में उपलब्धि करनी चाहिए। तब अनुभव में आयेगा कि यह विश्व भगवान का प्रकाश या विभूति है। तब भगवान का दर्शन, ध्यान और उपलब्धि सहज, सुन्दर और स्वाभाविक हो जायेंगे। तब सभी भगवान् हैं—सर्वत्र भगवान हैं, यह उपलब्धि करते हुए ॐ विष्णुः ॐ विष्णुः ॐ विष्णुः उच्चारण करना चाहिए। स्थूल में विष्णु, सूक्ष्म में विष्णु, कारण में विष्णु—सर्वत्र विष्णु की उपलब्धि करनी चाहिए।

ॐ तद् विष्णोः परमं पदं, सदा पश्यन्ति सूरयः।
दिवीव चक्षुराततम् ॥ २ ॥

सूरयः (ज्ञानीगण) तद् विष्णोः (उन सर्वव्यापक भगवान् विष्णु के) परमं पदं (परम धाम को) दिवि (आकाश में) आततं चक्षुः इव (विस्तृत चक्षु के समान) सदा पश्यन्ति (सर्वदा देख रहे हैं)। यह श्लोक भगवान के अस्तित्व और सर्व-व्यापकत्व का प्रमाण है। भगवान वाक्य-मन के अतीत हैं। प्रमाणादि मनोधर्म द्वारा मनातीत की उपलब्धि नहीं हो सकती। वे विशुद्ध चित्त में अनुभवगम्य हैं। जितेन्द्रिय, शुद्ध, शान्त सत्यवादी और जीवहितव्रत ऋषियों के वचन एवं अनुभूति हेतुवाद द्वारा बाधित नहीं होते। जब वे कहते हैं कि भगवान हैं, हम उनको देख रहे हैं तब फिर उनके वचन में सन्देह करने का कोई कारण नहीं। उनकी बात पर विश्वास करके, उनके प्रदर्शित पथ

पर चलने से भगवद्-दर्शन हो सकता है। उन्होंने भगवान को विश्वरूप में, सर्वव्यापी, सर्वान्तर्यामी, सर्वभूतान्तरात्मरूप में देख लिया है।

ॐ अपवित्रः पवित्रो वा, सर्वावस्थां गतोऽपि वा।

यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं, स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः ॥३॥

यः (जो) अपवित्रः पवित्रः वा (पवित्र या अपवित्र) सर्वावस्थां गतः अपि वा (किसी भी अवस्था में रहते हुए) पुण्डरीकाक्षं (उन कमललोचन, शरीर के सब तत्त्वों में अवस्थित श्री भगवान् को) स्मरेत् (स्मरण करता है) स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः (वह भीतर और बाहर पवित्र हो जाता है)। सर्वत्र विष्णु भगवान के स्मरण और उपलब्धि के फलस्वरूप साधक का आन्तर और बाह्य शुद्ध हुए बिना नहीं रह सकता।

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता, मनो मे वाचि प्रतिष्ठितम्।

ॐ आविरावीर्म्म एधि ॥४॥ (३ बार)

मे वाक् (मेरी वाणी) मनसि प्रतिष्ठिता (मन में प्रतिष्ठित हो जाय) मे मनः (मेरा मन) वाचि प्रतिष्ठितम् (वाणी में प्रतिष्ठित हो जाय) आविः आवीः (हे स्वप्रकाश ब्रह्मज्योति) मे एधि (मेरे भीतर अधिष्ठित हो)।

ऋषियों को कर्तृत्वाभिमान और प्रतिष्ठा-मोह नहीं था। वे भगवान् के हाथ के एक-एक यन्त्र थे। भगवदिच्छा को पूर्ण करने में ही वे जीवन की चरम सार्थकता मानते थे। इसलिए सब शुभ

कर्मों को आरम्भ करने से पहले भगवान् से प्रार्थना करते थे — 'हे भगवान, तुम हमारे भीतर से प्रकाशित होकर हमारे मन को अपने वश में कर लो। हमारी वाणी को मन के साथ युक्त कर दो; हमारे मुख से तुम बोलो; हमारे हाथ से काम करो। तब फिर हमारा स्वार्थ, कर्तृत्वाभिमान, प्रतिष्ठा-मोह तुम्हारी इच्छा अथवा तुम्हारे कार्य को विकृत नहीं कर सकेगा।'

(२) सूर्यार्घ्य

(जल, दूब, चावल, हाथ में लो)

ॐ नमो विवस्वते ब्रह्मन् भास्वते विष्णुतेजसे
जगत्सवित्रे शुचये सवित्रे कर्मदायिने
इदमर्घ्यं ॐ नमः सूर्याय नमः ॥ ५ ॥

—सूर्यदेव का ध्यान करके जलहरी में डाल दो।

(हे ब्रह्मन् सूर्यदेव, तुम तेज सम्पन्न, दीप्तिशील, विष्णुतेज के आधार, जगत के स्रष्टा, पवित्र, सबके प्रसविता और कर्म के प्रवर्तक हो। यह अर्घ्य अर्पण द्वारा तुमको प्रणाम करता हूँ)।

(३ कृतज्ञता प्रकाश

ॐ गुरुभ्यो नमः, ॐ बान्धवेभ्यो नमः,
ॐ जीवेभ्यो नमः, ॐ देवेभ्यो नमः,
ॐ विश्वरूपाय परमात्मने नमः ॥ ६ ॥

ऋषिगण अकृतज्ञता को बहुत बड़ा अपराध मानते थे। भगवान

मनु भी कह गये हैं—"कृतघ्ने नास्ति निष्कृति"—कृतघ्नता का कोई प्रायश्चित्त नहीं। ऋषियों के नित्य कर्म में सबसे पहला काम था उपकारी का उपकार स्मरण करके भक्तिपूर्वक उनका नाम उच्चारण करना, सब काम आरम्भ करने से पहले उनसे कृपा प्रार्थना करना।

ॐ गुरुभ्यो नमः—'गु' शब्द का अर्थ है ज्ञान। जो ज्ञान का आविष्कार अथवा प्रचार कर गये हैं वे गुरु वर्ग में आते हैं। उनको प्रणाम कर उनका ज्ञान उपलब्धि करने की चेष्टा की जाती है।

ॐ बान्धवेभ्यो नमः—इसके बाद हम अपने सब बन्धु-बान्धवों के कृतज्ञ हैं। उनको प्रणाम कर उनका आशीर्वाद ग्रहण करना अवश्य करणीय है।

ॐ जीवेभ्यो नमः—इसके बाद हम सब जीवों से कितने रूपों में कितना उपकार प्राप्त करते हैं—वह सब स्मरण कर उनको प्रणाम करने की व्यवस्था है।

ॐ देवेभ्यो नमः—इसके बाद हम भगवान की विभूतिरूप देवताओं के, हमारे सब तत्त्वों में अधिष्ठित चैतन्य के, कितने प्रकार से ऋणी है—यह स्मरण कर, उनको प्रणाम कर, उनके आशीर्वाद की प्रार्थना की जाती है।

ॐ विश्वरूपाय परमात्मने नमः—सर्वोपरि विश्वरूप परमात्मा ही नाना रूप धारण कर नाना प्रकार से हमारा कल्याण कर रहे

हैं—यह उपलब्धि कर अति विनीत भाव से उनको प्रणाम करना चाहिए और चेष्टा करनी चाहिए कि उनकी इच्छा हमारे भीतर से पूर्ण सफलता लाभ कर सके।

(४) स्वस्ति वाचन

स्वस्तिवाचन का अर्थ है समर्थ ब्राह्मणों से मंगलवाणी उच्चारण कराना। यजमान कहता है—'आपलोग आशीर्वाद करें कि यह कार्य मंगलपूर्वक सम्पन्न हो'। ब्राह्मणगण कहेंगे—'स्वस्ति'। स्वस्तिवाचन आर्य साधना का प्रधान अंग था। देवता, ऋषि, मुनि, प्रत्येक जीव एवं पापी-तापी तक का ऋण स्वीकार करके, उनके कल्याण के लिए भगवान से प्रार्थना करते हुए, उनका आशीर्वाद शिरोधार्य करके सब शुभ अनुष्ठान आरम्भ करने का नियम था। एक सामान्य जीव के भी असंतुष्ट रहते हुए भगवद्धाम में प्रवेश असम्भव है। इसलिए यजमान सबसे प्रार्थना करता है कि आप लोग सब मिल कर आशीर्वाद करें कि यह शुभ अनुष्ठान मंगलकारी हो—'अयमारम्भः शुभाय भवतु'।

ॐ स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः,
स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति न स्तार्क्ष्योऽरिष्टनेमिः,
स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥ ७ ॥

वृद्धश्रवाः (जो सतत ब्रह्मतत्व श्रवण करते हैं अथवा जिनके पास हविरूप अन्न प्रचुर मात्रा में है) इन्द्रः (वे देवराज इन्द्र)

नः स्वस्ति (हमारा मंगल करें) विश्ववेदाः (सर्वज्ञानाधार) पूषा (जगत्पोषक देवता) नः स्वस्ति (हमारा मंगल करें) अरिष्टनेमि (अशुभ के नाशक, अहिंसा के पालक अथवा जिनका स्मरण करने से जीवन रथ की गति अबाध हो जाती है, वे विष्णु के वाहन) तार्क्ष्यः (गरुड़) नः स्वस्ति (हमारा कल्याण करें) बृहस्पतिः नः स्वस्ति दधातु (देवगुरु बृहस्पति हमारा मंगल विधान करें)।

चावल, दूब, फूल लो—

ॐ ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च देवा इन्द्रादयस्तथा।
भूतानि यानि वै लोके स्वस्ति दिशन्तु तानि नः ॥८॥

ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च (ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र) तथा इन्द्रादयः देवाः (तथा इन्द्रादि देवतागण) लोके (इस जगत में) यानि वै भूतानि तानि (और जितने भी प्राणी हैं वे सब) नः (हमारा) स्वस्ति (मंगल, कल्याण) दिशन्तु (करें)।

ॐ स्वस्ति ॐ स्वस्ति ॐ स्वस्ति । ९ ॥

—जलहरी में डाल दो।

जल लो —

ॐ आब्रह्मभुवनाल्लोकाः देवर्षि-पितृ-मानवाः।
तृप्यन्तु पितरः सर्वे मातृ-मातामहादयः ॥

अतीतकुल-कोटीनां सप्तद्वीप-निवासिनाम्
मया दत्तेन तोयेन तृप्यन्तु भुवनत्रयम् ॥ १० ॥

—जलहरी में डाल दो।

आब्रह्मभुवनात् (ब्रह्मलोक तक के) लोकाः (समस्त जीव) देवर्षि-पितृ-मानवाः (देवर्षिगण, पितृ-गण और मनुष्य) सर्वे पितरः (हमारे सब पितर) मातृ-मातामहादयः (मातृगण और मातामह इत्यादि) तृप्यन्तु (सब तृप्त हो जाँय)। अतीत कुल-कोटीनां (हमारे अतीत कोटि कुलके) सप्तद्वीपनिवासिनां (और सातों द्वीप के निवासी) मया दत्तेन तोयेन तृप्यन्तु (मेरी दी हुई जलांजलि से तृप्त हो जाँय)।

फिर जल को—

ॐ आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं जगत् तृप्यतु ॥११॥

—जलहरी में डाल दो।

ॐ अयमारम्भः शुभाय भवतु।
ॐ तिथि-नक्षत्र-वारादयः शुभाय भवन्तु ॥१२॥

अयमारम्भः (यह शुभ अनुष्ठान) शुभाय भवतु (मंगल करे) तिथिनक्षत्रवारादयः (तिथि-नक्षत्र-दिवस के सब अधिपति देवता) शुभाय भवन्तु (मंगल विधान करें)।

ॐ कर्तव्येऽस्मिन् हवन-कर्मणि
ॐ ऋद्धिं भवन्तोऽधिब्रुवन्तु, शिवं चास्तु,
ॐ ऋद्ध्यतां ॐ ऋद्ध्यतां ॐ ऋद्ध्यतां ॥१३॥

अस्मिन् कर्तव्ये हवन-कर्मणि (इस अनुष्ठेय हवन कर्म से) भवन्तः (सब उपस्थित गण) ऋद्धिम् च शिवं (पार्थिव-अपार्थिव सम्पत एवं भगवत्प्राप्तिरूप सिद्धि) अधिब्रुवन्तु (लाभ करें यह आशीर्वाद दीजिये)।

[सबने मिलकर कहा] ॐ ऋद्धयतां (तुम्हारा आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक कल्याण हो)।

(५) भगवत्-स्वरूप चिन्तन

यहां के श्लोकों में भगवान का स्वरूप, उनके तटस्थ लक्षण और भगवान के साथ जीव का सम्बन्ध तथा उनकी उपलब्धि के अधिष्ठान बताये गये हैं। भगवान ही हमारे यथा-सर्वस्व हैं। वे ही हमारी समस्त सम्पत, ऐश्वर्य, ज्ञान और आनन्द के मूलाधार हैं। वे सर्वत्र विराजित हैं। हमारे दुःख-कष्ट दूर करके हमें अपने आनन्दधाम में ले जाने के लिए व्यस्त है—यह उपलब्धि करनी चाहिए।

स्वरूप

ॐ सत्यम् ज्ञानम् अनन्तम् ब्रह्म
ॐ आनन्दरूपम् अमृतम् यद्विभाति।
ॐ शान्तम् शिवम् अद्वैतम्
तस्मै देवाय हविषा विधेम ॥१४॥

ब्रह्म (वह ब्रह्मतत्त्व) सत्यं ज्ञानं अनन्तं (सत्यस्वरूप, ज्ञान-स्वरूप एवं अपरिच्छिन्न स्वभाव है)। यत् विभाति आनन्दरूपम् अमृतं (जो सर्वत्र स्वयंप्रकाश रूप में विराजमान हैं वे आनन्द-स्वरूप एवं अविनाशी हैं)। शान्तं शिवं अद्वैतं (वे शान्त कल्याण-मय अद्वैततत्त्व हैं)। तस्मै देवाय हविषा विधेम (उन देवता की हम हवि आहुति द्वारा परिचर्या करेंगे)।

तटस्थ लक्षण

ॐ यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते
येन जातानि जीवन्ति।
यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति
तस्मै देवाय हविषा विधेम ॥१५॥

यतः (जिन से) इमानि भूतानि जायन्ते (यह समस्त जीव-जगत उत्पन्न होता है) येन जातानि जीवन्ति (जिनकी शक्ति से सब सृष्ट पदार्थ विधृत एवं परिपुष्ट हैं) यत् प्रयन्ति अभिसंविशन्ति (और जिनमें प्रलयकाल में सब सृष्ट पदार्थ विलय होते हैं, परम विश्राम लाभ करते हैं) तस्मै देवाय हविषा विधेम (उन देवता की हम हवि-आहुति द्वारा परिचर्या करेंगे)।

भगवान से जीव का सम्बन्ध

ॐ श्रोत्रस्य श्रोत्रम् मनसो मनो यद् वाचो ह वाचम्।
स उ प्राणस्य प्राणः चक्षुषश्चक्षुः
तस्मै देवाय हविषा विधेम ॥१६॥

यत् श्रोत्रस्य श्रोत्रं (जो हमारी कर्णेन्द्रियादि की श्रवणादि शक्ति हैं) मनसः मनः (मन की मनन शक्ति हैं) वाचः ह वाचं (वागिन्द्रिय की भी वाक् शक्ति हैं) स उ प्राणस्य प्राणः (वे ही प्राण की स्पन्दन शक्ति हैं) चक्षुषः चक्षुः (नेत्रों की दर्शन शक्ति हैं) तस्मै देवाय हविषा विधेम ।

भगवान का अधिष्ठान

ॐ यो देवोऽग्नौ योऽप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश ।

य ओषधिषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय हविषा विधेम ॥१७॥

यः देवः (जो देवता) अग्नौ (अग्नि में) यः अप्सु (जो जल में) यः विश्वं भुवनम् (समस्त विश्व में) यः ओषधिषु (जो औषधियों में) यः वनस्पतिषु (जो वनस्पतियों में) आविवेश (अन्तर्निहित शक्ति रूप में विराजमान हैं) तस्मै देवाय हविषा विधेम ।

यहाँ विशेष रूप से अनुभव करना चाहिए कि भगवान की अवस्थिति और कृपा के बिना हमारे कान सुन नहीं सकते, आँख देख नहीं सकती, हाथ काम नहीं कर सकते, मन चिन्तन नहीं सकता, हम जीवित ही नहीं रह सकते । जिससे भगवान हमारे भीतर आविर्भूत होकर, हमारे साथ युक्त रहकर यह हवन कार्य सुसम्पन्न करा लें—यह प्रार्थना करनी चाहिए ।

(६) यज्ञेश्वर की पूजा

यहाँ यह उपलब्धि करनी चाहिए कि भगवान स्वयं यज्ञ,

यज्ञाङ्ग, यज्ञ के उपकरण, यजमान, आदि रूप में यज्ञ का कार्य कर रहे हैं। प्रार्थना करनी चाहिए—"हे यज्ञेश्वर विष्णु भगवान ! तुम स्वयं यज्ञक्षेत्र में हमारे सबके भीतर सब तत्त्वों, सब द्रव्यों, तथा सम्पूर्ण क्रिया काण्ड में आविर्भूत होकर अपना यज्ञ कार्य सुसम्पन्न करो। हमारे सब तत्त्वों को अवलम्ब करके हमें यंत्ररूप से चलाओ"। अनुभव करना चाहिए कि सब देवता, ऋषि, सिद्ध महात्मागण यज्ञेश्वर का यज्ञ देखने के लिये आये हैं। इस कार्य में हमें अपना किसी प्रकार का कर्तृत्वाभिमान अथवा प्रतिष्ठा-मोह नहीं रखना चाहिए।

ध्यान

यज्ञो यज्ञपतिर्यज्ञी यज्ञाङ्गं यज्ञसाधनम् ।
यज्ञभृद् यज्ञभुग् विष्णुस्त्वमेव यज्ञपावनः ॥१८॥

तुम ही इस यज्ञ के यज्ञपति हो; तुम्हारे उद्देश्य से ही यह यज्ञ हो रहा है। तुम ही इस यज्ञ के कर्त्ता, सर्व-अंग, उपकरणादि हो। तुम ही यजमान, ऋत्विक, आदि रूप में उपस्थित हो। तुम इन सबको पवित्र करके अपने यज्ञ के उपयुक्त बना लो। तुम ही यज्ञ के फल के वाहन एवं भोक्ता हो। हे विष्णु भगवान, तुम अपने यज्ञ को सुचारु रूप से करा लो। यहां 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः' भाव (गी० ४।२४) चिन्तनीय है।

पाद्य अर्पण

यहाँ अनुभव करना चाहिए कि भगवान किस प्रकार जीव को

पूजा, जीव की सेवा कर रहे हैं—हमारी पूजा उनकी पूजा की नकल है। देखो गीता ३/२२-२४। ध्यान करो कि यज्ञेश्वर जीव-जगत के भीतर स्थित हुए जल तत्त्व को शुद्ध करके और उस शोधित जल से विष्णु के चरण कमल धोकर सब तत्त्वों को आप्यायित कर रहे हैं।

जल लो—

ॐ एतत् पाद्यं ॐ यज्ञेश्वराय श्रीविष्णवे नमः ॥१९॥

—जलहरी में डाल दो।

अत्र पाद्य-समर्पणेन चेतसि यद् यत् मालिन्यं सञ्जातं, तत् सर्वं शोधयित्वा सहस्रार-विगलित-सुधां यज्ञेश्वराय पाद्यरूपेणाहं सम्प्रददे ॥२०॥

अत्र पाद्यसमर्पणेन (इस पाद्य समर्पण के द्वारा) चेतसि यत् यत् मालिन्यं सञ्जातं (मेरे चित्त में जितनी भी मलिनता है) तत् सर्वं शोधयित्वा (वह सब शुद्ध होकर) सहस्रार विगलित सुधां (सहस्रार से विगलित सुधा को) अहं श्रीविष्णवे पाद्यरूपेण सम्प्रददे (मैं यज्ञेश्वर श्री विष्णु को पाद्यरूप में निवेदन करता हूँ)। अर्थात् साधक अपने चित्त को शुद्ध करके सहस्रार-विगलित सुधा से यज्ञपति श्रीविष्णु के चरण कमल धो रहे हैं—इस प्रकार चिन्तन करना चाहिए।

यस्य पादाम्बुजे दिव्ये निर्मले ब्रह्मरूपिणी।
पुनाति तद्भवा गंगा जगत् पाद्यं ददाम्यहम् ॥२१॥

यस्य दिव्ये निर्मले पादाम्बुजे (जिनके दिव्य निर्मल चरण कमल में) ब्रह्मरूपिणी गंगा [स्थिता] (ब्रह्मस्वरूपा गंगा अवस्थिता हैं) तद्भवा जगत पुनाति (और उनसे उत्पन्न वही गंगा जगत को पवित्र करती हैं) [तस्मै] (उन्हीं चरण कमलों में) अहं पाद्यं ददामि (मैं पाद्य अर्पण करता हूं) ।

मैंने भक्तिजल से उनके चरण कमलों को पखारा । अब उस प्रसादी जल से अपने सब तत्त्व शुद्ध और आप्यायित करता हूं । अर्थात् देवता के शुद्ध स्वरूप के ध्यान द्वारा मेरे सब तत्त्व आज शुद्ध हो गये ।

अर्घ्यं दान

चावल लो—

ॐ एषोऽर्घ्यः ॐ यज्ञेश्वराय श्रीविष्णवे नमः ।।२२।।

— जलहरी में डाल दो ।

अत्र अर्घ्यसम्प्रदानेन चेतसि
यानि यानि सौन्दर्याणि सन्ति,
तानि सर्वाणि यज्ञेश्वराय अहं सम्प्रददे ।।२३।।

(यहाँ यह उपलब्धि करनी चाहिए कि भगवान किस प्रकार जीव जगत को सुसज्जित कर रहे हैं । हमारा सब सौन्दर्य-माधुर्य वस्तुतः उन्हीं का दान, उन्हीं का प्रकाश है । हम भी उन्हीं के दिये हुए पुष्पादि द्वारा उनको सुसज्जित करने की चेष्टा करते हैं) ।

यः प्राणबिन्दुः मदीयो महाप्राणाम्बुधौ त्वयि ।
सोऽयं सम्मिलितो देव प्राणार्घ्यः प्रतिगृह्यताम् ॥२४॥

मदीयः यः प्राणबिन्दुः (मेरा यह क्षुद्र प्राण विन्दु) त्वयि महाप्राणाम्बुधौ सम्मिलितः (तुम्हारे महाप्राणसागर में ओत-प्रोत रूप से मिला हुआ है) देव (हे देव) सः अयं प्राणार्घ्यः प्रति-गृह्यताम् (मेरे इस प्राणरूपी अर्घ्य को तुम ग्रहण करो) । अर्थात तुम्हारा ही दिया हुआ मेरा यह जीवात्म रूप प्राण बिन्दु मैं तुमको अर्घ्यरूप में निवेदन करता हूं । मैं अब तक अहंकार के कारण अपने मन-प्राणादि को तुम्हारे सर्वव्यापी प्राणादि से पृथक मानता था किन्तु आज यह अनुभव में आया कि यह तो तुम्हारा अच्छेद्य अंश है । अब मैं अपने व्यष्टि प्राणादि को तुम्हारे समष्टि प्राणादि में आहुति देकर सर्वतोभावेन तुम्हारा हो जाने में समर्थ हूं । तुम इसको ग्रहण कर मुझे कृतार्थ करो ।

ॐ ब्रह्मादयः पादपद्मं चिन्तयन्ति दिने दिने ।
अनर्घ्याय जगद्धात्रे अर्घ्यमेतद् ददाम्यहम् ॥२५॥

[यत्] (जिन) पाद पद्मं (चरण कमलों का) दिने दिने (प्रतिदिन) ब्रह्मादयः (ब्रह्मादि देवता) चिन्तयन्ति (ध्यान-करते हैं) [तस्मै] (उन) अनर्घ्याय जगद्धात्रे (जगतपालक-चरणों में) अहं एतत अर्घ्यं ददामि (मैं यह अर्घ्य अर्पण करता हूं) ।

अर्थात् मेरा यह क्षुद्र प्राण तुम्हारा ही दान है, तुम्हारे महा

प्राण सागर में मिलनोन्मुख है अब जिससे मुझे अहं-बुद्धि से उत्पन्न त्रिताप-ज्वाला फिर न भोग करनी पड़े तुम अपने इस मिलनकामी सन्तान का यह प्राणार्घ्य ग्रहण कर कृतार्थ करो।

गन्ध पुष्प दान

फूल चन्दन लो—

ॐ एते गन्धपुष्पे ॐ यज्ञेश्वराय श्रीविष्णवे नमः ॥२६॥

—जलहरी में डाल दो।

अत्र गन्धपुष्पसम्प्रदानेन चेतसि
ये ये भगवद्भावाः सन्ति,
तान् सर्वान् यज्ञपतये श्रीविष्णवे अहं सम्प्रददे ॥२७॥

(ये गन्ध-पुष्प जो मेरे चित्त के ज्ञान, प्रेमादि सद्भावों के प्रतीक हैं तुमको निवेदन करता हूं। ये सब सद्भाव वास्तव में मेरे नहीं हैं, ये तुम्हारे ही कृपादान हैं—यह तत्व उपलब्धि कर तुम्हारे धन तुम्हीं को देकर वृथा कर्तृत्वाभिमान से मुक्त होना चाहता हूं)।

धूपदान

फूल चावल लो—

ॐ एष धूपः ॐ यज्ञेश्वराय श्रीविष्णवे नमः ॥२८॥

—धूपदानी में डाल दो।

अत्र धूपदानेन चेतसि
तपस्या-लब्धा ये ये सद्गुणाः सन्ति
तान् सर्वान् यज्ञेश्वराय श्रीविष्णवे अहं सम्प्रददे ॥२९॥

ॐ वनस्पतिरसो दिव्यो गन्धाढ्यः सुमनोहरः ।
आघ्रेय सर्वदेवानां धूपोऽयं प्रतिगृह्यताम् ॥३०॥

दिव्यः गन्धाढ्यः वनस्पतिरसः (दिव्य सुगन्ध से भरपूर वनस्पतिरस) सर्वदेवानां आघ्रेयः (सब देवताओं के सूँघने की प्रियवस्तु) अयं सुमनोहरः धूपः प्रतिगृह्यताम (यह मनोहर धूप तुमको ग्रहण हो)।

धूप आग मे जलने से सुगन्ध वितरण करती है। इसी प्रकार हमारे भीतर के अनेक सद्गुण तपस्या के द्वारा आवरण दूर हो जाने पर प्रकाशित हो जाते हैं। ये तपस्यालब्ध सद्गुण भी उन्हीं के प्रकाश हैं—यहाँ यह तत्त्व आस्वाद करना चाहिए।

दीपदान

फूल चावल लो—

ॐ एष दीपः ॐ यज्ञेश्वराय श्रीविष्णवे नमः ।३१॥

—दीप को अर्पण करो।

अत्र दीपदानेन परोक्षापरोक्षादि सर्वज्ञानं
यज्ञेश्वराय श्रीविष्णवे अहं सम्प्रददे ॥३२॥

अत्र दीपदानेन (इस ज्योतिरूप दीपदान द्वारा) परोक्ष-अपरोक्ष-आदि सर्वज्ञानं (शास्त्र-लब्ध परोक्ष एवं स्वानुभूत अपरोक्ष सब प्रकार का ज्ञान) अहं यज्ञेश्वराय श्रीविष्णवे सम्प्रददे (मैं यज्ञेश्वर श्रीविष्णु को समर्पण करता हूं)।

अर्थात् मेरे भीतर परोक्ष-अपरोक्ष जो भी ज्ञान का स्फुरण हुआ है, यह तुम्हारा ही कृपा दान है, यह सब तुम्हीं को समर्पित है।

पाद्यअर्पण से धूपदान तक की क्रिया द्वारा, योगाभ्यास की क्रिया विशेष के फलस्वरूप कर्तृत्वाभिमान दूर हो जाता है और आज्ञा-चक्र में शिवलिङ्ग रूपी ज्ञान-दीप जल उठता है। तब समझ में आता है :—

ॐ अग्निज्योती रविज्योतिः चन्द्रज्योतिस्तथैव च ।
ज्योतिषामुत्तमं देव ज्योतिर्मे प्रतिगृह्यताम् ॥ ३२ ॥

अग्निज्योतिः (अग्नि की ज्योति) रविज्योतिः (सूर्य का प्रकाश) चन्द्रज्योतिः तथा एव च (एवं चन्द्रमा का आलोक) देव (हे देव) ज्योतिषाम् उत्तमं मे ज्योतिः (सब ज्योतियों में श्रेष्ठ मेरे द्वारा प्रदत्त दीप की ज्योति) प्रतिगृह्यताम् (तुम्हारे ग्रहणयोग्य हो)।

अर्थात् जब ज्ञान का आलोक उदय होता है तब उसके आगे सूर्य-चन्द्रादि को ज्योति निस्तेज मालूम होती है। तभी समझ में आता है कि ब्रह्मज्योति से ही सूर्य-चन्द्र-विद्युत आदि आलोकित हैं।

यस्मिन् प्रज्वलिते न तिष्ठति तमः
बाह्यं न चाभ्यन्तरम् ।
सोऽयं ज्ञानमयः प्रकाशपरमो
दीपः समुज्ज्वाल्यताम् ॥ ३४ ॥

यस्मिन् प्रज्वलिते (जिस ज्ञानाग्नि के प्रदीप्त हो जाने पर) न बाह्यं न च आभ्यन्तरं तमः तिष्ठति (बाहर अथवा भीतर किसी प्रकार का अन्धकार नहीं रहता) ज्ञानमयः प्रकाशपरमः (ज्ञान-मय परम प्रकाशस्वरूप) सः अयं दीपः समुज्ज्वाल्यताम् (वही दीपशिखा मेरे भीतर प्रज्वलित करो)। अर्थात् श्रीविष्णु की कृपा से साधक के हृदय में अध्यात्म-ज्ञान का आलोक उदय होने पर अनात्मदर्शन जनित मलिनता तिरोहित हो जाती है। क्रमशः साधक ज्ञानदृष्टि, दिव्यचक्षु लाभ करता है—यही यथार्थ दीप निवेदन है।

नैवेद्य निवेदन

फूल चन्दन लो –

ॐ एतत् नैवेद्यं ॐ यज्ञेश्वराय श्रीविष्णवे नमः ॥३५ ॥

—नैवेद्य में डाल दो।

अत्र नैवेद्य-सम्प्रदानेन मम नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तात्मानं ॐ यज्ञेश्वराय श्रीविष्णवे अहं सम्प्रददे ॥ ३६ ॥

यहां नैवेद्य का अर्थ है भुक्त अन्नादि की चरम परिणति अर्थात् सुधा–साधनभजन से उत्पन्न नित्य-शुद्ध-बुद्ध आत्मतत्त्व।

उपचार समर्पण

मयाऽर्प्यते त्वच्चरणेऽयमात्मा
प्रतीच्छ हे स्वस्य धनं स्वयं त्वम्।
किंचिन्निजस्वं न हि विद्यत मे
यद् दीयते त्वच्चरणे मुकुन्द ॥ ३७ ॥

मया (मेरे द्वारा) अयम् आत्मा (यह आत्मा, त्वच्चरणे अर्प्यते (तुम्हारे चरणों में अर्पण हो रहा है)। हे (सर्वात्मन्) त्वं स्वयं स्वस्य धनं प्रतीच्छ (तुम स्वयं अपने धन को ग्रहण करो) मुकुन्द (हे मुक्तिदाता) त्वच्चरणे यद् दीयते (तुम्हारे चरणों में जो कुछ अर्पण किया है) मे निजस्वं (इसमें मेरा अपना) किंचिन् न विद्यते हि (कुछ भी नहीं है)।

अर्थात् अपने नित्य-शुद्ध-बुद्ध आत्मा को भगवान की प्रदत्त वस्तु उपलब्धि करके साधक उनका धन उन्हीं को देकर आत्म-निवेदन तत्त्व सार्थक करता है।

गायत्री जप

यज्ञेश्वर के ध्यान के फलस्वरूप साधक अपने आराध्य परमेश्वर से तन्मयता लाभ कर अपना पृथक् अस्तित्व भूल जाता है—एक अनिर्वचनीय अखण्ड अद्वय तत्त्व आस्वाद करता

है। तब समस्त 'इदं तत्त्व' ध्येय 'अहं तत्त्व' की परिणति अथवा विवर्तन रूप में उपलब्ध हो जाने के फलस्वरूप एक परम अद्वैत तत्त्वमें निमज्जित हो जाता है। इसके बाद एक लीलार्थ कल्पित द्वैत भाव साधक के समक्ष स्फुरित होने लगता है। यह 'लीलार्थ कल्पितं द्वैतं अद्वैतात् अपि सुन्दरम्' है। इस द्वैत, अद्वैत एवं द्वैताद्वैत रूप लीला के पुनः पुनः चिन्तन और उपलब्धि द्वारा जप कार्य साधित होता है।

ॐ परमेश्वराय विद्महे, यज्ञेश्वराय धीमहि,
तन्नो यज्ञः प्रचोदयात् ॐ ॥ ३८ ॥ (तीन बार)

ॐ परमेश्वराय विद्महे (हम यज्ञपति परमेश्वर के स्वरूप को जानकर उनके चिद्रूप में विभोर रहें) यज्ञेश्वराय धीमही (यज्ञपुरुष के ध्यान में समाहित हो जाँय) यज्ञः (परमेश्वर का यज्ञस्वरूप यज्ञ) नः [बुद्धि वृत्तीः] (हमारी समस्त बुद्धि वृत्तियों को) प्रचोदयात् (धर्म-अर्थ-आदि चतुर्वर्ग में प्रेरण करे)।

गायत्री जप से हमारे भीतर-बाहर के सब तत्त्व परमेश्वर की भावना के फलस्वरूप उनसे तन्मयता लाभ कर उनकी लीला में सहायक हो जाते है। तब समझ में आता है कि इस जीव-जगत् रूप यन्त्र को वे ही यन्त्री बनकर चला रहे हैं।

प्रणाम

ॐ कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने।
प्रणतक्लेशनाशाय गोविन्दाय नमो नमः ॥ ३९ ॥

कृष्णाय (रूप-गुणादि द्वारा सर्वचित्ताकर्षक को) वासुदेवाय (जो विशुद्ध चित्त में आत्मप्रकाश करते हैं उन वासुदेव को, हरये (जो भक्त का चित्त हरण करने में तत्पर हैं उनको) परमात्मने (जो हृदय में अधिष्ठित हुए हमारे देहयन्त्र को चला रहे है उनको) प्रणतक्लेशनाशाय (जो आश्रित भक्त के समस्त क्लेश दूर कर देते हैं उनको) गोविन्दाय (जो भक्त की अप्राकृत इन्द्रियों द्वारा अनुभव-वेद्य हैं उनको) नमः नमः (बार-बार प्रणाम करता हूं)।

ॐ नमो ब्रह्मण्यदेवाय गो-ब्राह्मणहिताय च।
जगत्-हिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमो नमः ॥ ४० ॥

ब्रह्मण्यदेवाय नमः (ब्रह्मण्य देव को नमस्कार) गो-ब्राह्मण-हिताय जगत्-हिताय च कृष्णाय नमः (गोब्राह्मण हितकारी एवं जगत के उपकारक श्रीकृष्ण को नमस्कार) गोविन्दाय नमः (जो इन्द्रियों के अधिष्ठाता होकर हमारी प्रत्येक इन्द्रिय द्वारा आस्वाद्य हैं उनको नमस्कार)।

हे कृष्ण करुणासिन्धो दीनबन्धो जगत्पते।
गोपेश गोपिकाकान्त राधाकान्त नमोऽस्तु ते ॥ ४१ ॥

हे कृष्ण (हे सर्वचित्ताकर्षक) करुणासिन्धो (दयासागर) दीनबन्धो (अनाथशरण) जगत्पते (जगत के पालक) गोपेश (गोपों के ईश्वर—सब जीवों के ईश्वर) गोपिकाकान्त (मधुर

भावापन्न रमणीय तत्त्व) राधाकान्त (श्रीराधा के वल्लभ) ते नमः अस्तु (तुमको नमस्कार हो)।

ॐ प्राणगोविन्दाय नमः ॥ ४२ ॥

(प्राण एवं इन्द्रियों के अधिष्ठाता तथा चालक को नमस्कार)।

ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिम्
द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम् ।
एकं नित्यं विमलं अचलं सर्वधी-साक्षिभूतं
भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तं नमामि ॥ ४३ ॥

ब्रह्मानन्दं (जो परमात्म-सत्ता में रहते हुए नित्य आनन्द पान करते है) परमसुखदं (जो आत्म तत्त्व वितरणकर दूसरों को परम सुख दान करते हैं) केवलं (परमात्म-सत्ता में नित्य रहने के फलस्वरूप जिनका व्यष्टित्व विराट भूमा अस्तित्व में पर्यवसित हो गया है) ज्ञानमूर्ति (एकमात्र ज्ञान ही जिनके शरीर का उपादान है) द्वन्द्वातीतं (जो सुख-दुःखादि द्वन्द्व रहित हैं) गगनसदृशं (जो आकाश के न्याय व्यापक हैं अर्थात् असीम हैं) तत्त्वमस्यादि-लक्ष्यम् (तत्-त्वम्-असि इस महावाक्य के जो लक्ष्य हैं) एकं (जो अद्वितीय सत्ता में अवस्थित हैं) नित्यं (जो कालातीत अपरिच्छिन्न भाव में अवस्थित हैं) विमलं (सर्व प्रकार मलिनता रहित) अचलं (नित्य स्थिर) सर्वधी-साक्षिभूतं (जो सब जीवों की बुद्धि-क्रिया को देख रहें हैं) भावातीतं (जो योगी-ऋषियों के भाव के भी अगम्य हैं) त्रिगुणरहितं

(जो तीनों गुणों की मलिनता से रहित हैं) सत् गुरुं तम् नमामि (उन एकमात्र सत् अस्तित्व रूपी गुरू को नमस्कार करता हूं)।

अर्थात परमपुरुष परमात्मा ही जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि साधारण मानवीय धर्म स्वीकार कर साधक के कल्याणार्थ श्रीगुरू रूप में आविर्भूत होते हैं। उनमें परमात्म-तत्त्व का वैशिष्ट्य पूर्णतः विराजमान है। इसलिए गुरु में मनुष्य-बुद्धि नहीं रखनी चाहिए।

(७) अग्नि का आवाहन

अग्नि का मुख्य अर्थ है ब्रह्म, उनका अधिष्ठान है सहस्रार। षट्चक्र-भेद, कुण्डलिनि-जागरण, गायत्री-साधन द्वारा चित्त को सहस्रार में ले जाकर भगवान को जीव का दुख सुनाना, उनको नीचे के तत्त्वों में ले आना, सब तत्त्वों को भगवद्‌भाव से पूर्ण करना, भगवद् कार्य साधन की योग्यता लाभ करना—यही अग्नि आवाहन का रहस्य है। इस विषय में पुराणों में वर्णित कथा, देवताओं का ब्रह्माजी को आगे करके बैकुण्ठ अथवा गोलोक में जाना, चिन्तनीय है। श्रीअरविन्द ने इसको 'Descent of the Divine' नाम दिया है; Bible में इसको 'Let Thy Kingdom come' कहा गया है। अग्नि देवताओं के पुरोहित, Bible के Holy Ghost, पुराणों के नारद ऋषि हैं। अर्थात् जो मर्त्यवासियों को स्वर्ग का समाचार सुनाकर स्वर्ग में ले जाने की व्यवस्था करते हैं वे ही अग्नि की विभूति, ईश्वर के दूत,

हिन्दुओं के देवतादि रहस्य हैं। विभिन्न तत्त्वों में अग्नि के विभिन्न नाम, विभिन्न क्रिया-कलाप साधना का गूढ़ रहस्य है।

(वेदी के ऊपर बराबर से बालू बिछाकर पूर्व अथवा उत्तर की ओर मुख करके बैठकर नीचे बना हुआ चित्र उंगली से बना देना चाहिए)।

इसके बाद लकड़ियाँ बिछाकर अग्नि जलाओ।

ॐ अग्ने आयाहि वीतये, गृणानो हव्यदातये
नि होता सत्सि बर्हिषि ॥ ४४ ॥

(हे अग्निदेव, तुम इस यज्ञभूमि में अवतीर्ण हो। हमारे प्रदत्त हवि को ग्रहण कर देवताओं के पास पहुंचा दो)।

ॐ अग्ने त्वं इहागच्छ इहागच्छ,
इह तिष्ठ इह तिष्ठ, इह सन्निधेहि,
इह सन्निरुध्यस्व, अत्राधिष्ठानं कुरु,
मम पूजां गृहाण ॥ ४५ ॥

(हे अग्निदेव, तुम इस यज्ञभूमि में (यजमान की देह में) आगमन करो, यहां अवस्थान करो, हमारे सम्मुख प्रकट हो, जब तक यज्ञ समाप्त न हो जाय यहाँ से अन्तर्हित न होना। हमारे भीतर अधिष्ठित हुए हमारी पूजा ग्रहण करो)।

फूल चन्दन लो—

ॐ एते गन्धपुष्पे ॐ अग्नये नमः ॥ ४६ ॥

—अग्नि में डालदो।

घी में डुबोकर बेलपत्र लो—

इदम् हविः ॐ अग्नये स्वाहा ॥४७ ॥

—अग्नि में डाल दो।

(अर्थात, हम गन्ध-पुष्पादि से अग्नि की पूजा करते हैं, अग्नि को यह हवि अर्पण करते हैं)।

ॐ अग्निमीड़े पुरोहितं, यज्ञस्य देवमृत्विजं,
होतारं रत्नधातमम् ॥ ४८ ॥

(जो अग्नि देवताओं के पुरोहित हैं, यज्ञ के फलदाता हैं, मैं उनकी आराधना करता हूँ।)

अग्नि-वन्दना

ॐ अग्निं प्रज्वलितं वन्दे जातवेदं हुताशनम्।
सुवर्णवर्णममलं समिद्धं विश्वतोमुखम् ॥ ४९ ॥

(मैं) प्रज्वलितं अग्नि वन्दे (प्रज्वलित अग्नि की वन्दना करता हूं) जातवेदम् (जो सब सृष्ट पदार्थों को जानते हैं) हुताशनम् (जो सब हुत, प्रदत्त, निक्षिप्त वस्तुओं को भक्षण करते हैं) सुवर्ण-वर्णम् (जिनका सोने का रंग है) अमलम् (जो सब मल नाश कर द्रव्य को शुद्ध करदेते हैं) समिद्धं (जो सम्यक रूप से ज्वलन-शील हैं) विश्वतोमुखम् (जिनका शिखारूप मुख सब तरफ प्रसारित है) ।

गायत्री

ॐ भूः ॐ भुवः ॐ स्वः ॐ महः ॐ जनः ॐ तपः ॐ सत्यम् ।
ॐ तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि
धियो यो नः प्रचोदयात् ॐ ॥ ५० ॥

—इस मंत्र को पढ़कर सात बार आहुति दो ।

इस मंत्र के प्रथम भाग को उच्चारणकर चित्त को मूलाधार से, षट्चक्र भेदकर, सहस्रार में लेजाना चाहिए और अपने-आप को परम शिव के सम्मुख उपस्थित समझना चाहिए। सहस्रार में, अग्नि के प्रकृत ब्रह्मधाम में पहुँच कर, अग्नि का प्रकृत स्वरूप उपलब्धि कर, उनसे अपनी-अपनी प्रार्थना करनी चाहिए। इसके बाद 'धियो यो नः प्रचोदयात्' उच्चारण कर उस ब्रह्मज्योति को सब तत्त्वों में, अन्तरिन्द्रिय एवं बहिरिन्द्रिय में, आनयन कर सब तत्त्वों को ब्रह्मज्योति से भरपूर और भगवत् कार्य साधन में नियुक्त करना चाहिए। इसी का नाम है अग्नि देवता का अवतरण—श्रीअरविन्द की भाषा में 'Descent of the Divine'।

अर्थात सब तत्त्वों में जो मलिनता आगयी थी जिससे भगवत् कार्य साधन में बाधा होती थी, अग्नि की सहायता से वह सब शुद्ध कर, भगवत्-भाव से परिभावित कर, सब तत्त्वों में भगवत्-लीला अनुभव करनी चाहिए।

सहस्रार में

ॐ अग्ने त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि ।
ॐ ब्रह्मणे स्वाहा ॐ अग्नये स्वाहा ॥ ५१ ॥

— आहुति दो।

(अर्थात् अग्नि की संस्कारजनित मलिनता दूर कर प्रकृत ब्रह्मस्वरूप में उपलब्धि करनी चाहिए। अग्नि=ब्रह्मज्ञान)।

आज्ञाचक्र में

ॐ अग्ने त्वमेव देवस्य भर्गोऽसि ।
ॐ अग्नये स्वाहा ॐ भर्गोरूपाय ब्रह्मणे स्वाहा ॥५२॥

—आहुति दो।

(यहाँ आज्ञाचक्र में चित्त स्थिर कर, ब्रह्मज्योति के दर्शन कर, अग्नि को भर्गोरूप में अनुभव कर ब्रह्म को आहुति देनी चाहिए। इस आहुति के फलस्वरूप ब्रह्मज्योति हमारी संस्कारजनित उपाधि से मुक्त होकर अपने स्वरूप में प्रकट होगी)।

अनाहत में

ॐ अग्ने त्वमेव देवस्य प्राणोऽसि ।
ॐ अग्नये स्वाहा ॐ प्राणरूपाय ब्रह्मणे स्वाहा । ५३॥

—आहुति दो ।

(इसके बाद चित्त को अनाहत चक्र में लाकर अग्नि का प्राणरूप में आविर्भाव उपलब्धि कर प्राणरूप ब्रह्म को आहुति प्रदान करनी चाहिए । इसके फलस्वरूप प्राणतत्त्व का प्रकृत स्वरूप उपलब्धि करने की योग्यता लाभ होगी)।

मणिपुर में

ॐ अग्ने त्वमेव वैश्वानरोऽसि ।
ॐ अग्नये स्वाहा ॐ वैश्वानररूपाय ब्रह्मणे स्वाहा ॥५४॥

—आहुति दो ।

(अब चित्त को मणिपुर में लाकर अग्नि को वैश्वानर रूप में शरीर के चालक रूप में, अनुभव कर वैश्वानर रूपी ब्रह्म को आहुति देनी चाहिए। इसके फलस्वरूप वैश्वानर का प्रकृत तत्त्व एवं कार्यकलाप अनुभव में आयेगा)।

मूलाधार में

ॐ अग्ने त्वमेवायं प्रज्वलितो वह्निरसि ।
ॐ अग्नये स्वाहा ॐ वह्निरूपाय ब्रह्मणे स्वाहा ॥५५॥

—आहुति दो ।

(तदनन्तर चित्त को मूलाधार में लाकर सम्मुखस्थ प्रज्वलित अग्नि को ब्रह्माग्नि का प्रतिरूप अनुभव कर आहुति देनी चाहिए। इसके परिणाम स्वरूप स्थूल अग्नि में अग्नि तत्त्व का आविर्भाव अनुभव में आयेगा)।

ॐ अयमग्निः सर्वेषां भूतानां मधु,
अस्य अग्नेः सर्वाणि भूतानि मधु,
यश्चायं अस्मिन्नग्नौ तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः,
यश्चायं अध्यात्मं वाङमयस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः
अयमेव स यो अयमात्मा
इदं ब्रह्म इदममृतं इदं सर्वं स्वाहा ॥ ५६ ॥

—आहुति दो।

अयम् अग्निः सर्वेषां भूतानां मधु (यह अग्नि समस्त भूतगण को प्रिय है) सर्वाणि भूतानि अस्य अग्नेः मधु (सब सृष्ट पदार्थ इस अग्नि को प्रिय हैं) अस्मिन् अग्नौ यः च अयम् तेजोमयः अमृतमयः पुरुषः (इस अग्नि में जो साक्षात् तेजोमय अमृतमय पुरुष वर्तमान हैं अर्थात् यह अग्नि केवल जड़ पदार्थ नहीं है) यः च अयम् अध्यात्मं वाङ्मयः तेजोमयः अमृतमयः पुरुषः (एवं वे पुरुष अग्नि के आत्मरूप में, इसके अणु-परमाणु में अनुस्यूत हैं और वाक्, तेज, अमृत द्वारा गठित हैं अथवा जो अध्यात्मरूप में, ज्योतिर्मय वाक्‌रूप में, अमृतरूप में प्रकटित हैं) अयम् एव सः यः अयमात्मा (वे ही देवता मेरे भी आत्मा

हैं) इदं ब्रह्म इदं अमृतं (ये ही ब्रह्म एवं अमृत पुरुष नाम से वर्णित हैं) इदं सर्वं स्वाहा (ये ही मेरे सर्वस्व हैं इसलिए इस अग्नि में मैं अपनी पृथक सत्ता-बोध को अर्पण करता हूं) ।

यहाँ यह अनुभव करना चाहिए कि अग्नितत्त्व ही हमारे भीतर का सारतत्त्व, ज्ञान और आनन्द का मूलस्रोत एवं समस्त शक्ति का चालक है और इस अग्नि को सब निवेदन कर, अग्नि से तन्मय होकर, अग्नि का यथार्थ स्वरूप उपलब्धि करना चाहिए ।

> अखिल-भुवन-गर्भे वर्तसे चित्स्वरूपो
> विलसति विभवस्ते स्थूल-सूक्ष्मः परश्च ।
> अनल-वपुरिह त्वं ब्रह्म प्रत्यक्षरूपं
> स खलु निवस यज्ञे साधु हव्यं गृहाण ।।५७।।

(हे अग्नि) अखिलभुवनगर्भे चित्स्वरूपः वर्तसे (तुम सकल भुवन में चैतन्य ज्योतिरूप में विराजमान हो) स्थूल सूक्ष्मः परश्च ते विभवः विलसति (स्थूल, सूक्ष्म और कारण जगत में भी तुम्हारी विभूति प्रकाशित हो रही है) । इह त्वं अनलवपुः प्रत्यक्षरूपं ब्रह्म (इस यज्ञभूमि में तुम स्थूल अग्नि शरीर में, प्रत्यक्ष ब्रह्मस्वरूप में अवस्थित हो) । सः खलु यज्ञे निवस हव्यं साधु गृहाण (एतादृश तुम हमारे इस यज्ञ में अधिष्ठित हो और हमारे आहुत द्रव्यादि को सम्यक रूप से ग्रहण करो)

चित्तस्य नः सकलभावमयः प्रपंचो
यैषा क्रिया प्रविततता खलु प्राणमूला ।
हव्येन मे तदखिलं त्वयि चास्तु दत्तं
स्पष्टीकुरुष्व मयि ते नरमेधयज्ञम् ॥ ५८ ॥

नः चित्तस्य सकलभावमयः प्रपंचः (हमारे चित्त का सब भावमय प्रपंच) खलु प्राणमूला प्रविततता या एषा क्रिया (और प्राणमूलक नाना प्रकार की क्रियाएँ) मे तद् अखिलं हव्येन त्वयि दत्तम् च अस्तु (मेरे सब हव्यरूप प्रतीक द्वारा तुमको अर्पित होजाएँ) मयि ते नरमेधयज्ञम् स्पष्टीकुरुष्व (मेरे भीतर तुम्हारे नरमेधयज्ञ तत्व को स्पष्ट कर दो)।

यच्चास्माकं हुतं द्रव्यं यच्चास्ति भावनात्मकम् ।
ताभ्यां शुद्धिः सदा चास्तु स्थूल सूक्ष्म-शरीरयोः ॥५९॥

अस्माकं यत् च हुतं द्रव्यं (हमारे सब आहुत स्थूल द्रव्य) यत् च भावनात्मकं (द्रव्यं) अस्ति (और जो कुछ भावनात्मक आहुति हैं) ताभ्यां सदा स्थूल-सूक्ष्म-शरीरयो शुद्धिः अस्तु च (इन दोनों के द्वारा हमारे स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर की शुद्धि हो जाय)।

ॐ अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्
विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो
भूयिष्ठां ते नम-उक्तिं विधेम ॥६०॥

अग्ने अस्मान् राये सुपथा नय (हे अग्नि, हमें धनप्राप्त, कर्मफलप्राप्ति, के लिये सुपथ पर ले चलो) देव [त्वं] विश्वानि वयुनानि विद्वान् (हे देव, तुम समस्त कर्मादि को जानते हो) अस्मद् जुहुराणम् एनः युयोधि (हमारे सब कुटिल अपकारी पापोंको नाश करो) ते भूयिष्ठां नम-उक्ति विधेम (तुमको प्रभूत नमस्कार वचन उच्चारण करते हैं)।

ॐ वैश्वानर जातवेद इहावह लोहिताक्ष
सर्वकर्माणि साधय स्वाहा ॥६१॥

—आहुति दो।

वैश्वानर जातवेद लोहिताक्ष (हे अग्नि, तुम वैश्वानर, जातवेद, लोहिताक्ष, विविध नामों से परिचित हो) इह आवह (हमारी यज्ञभूमि में देवताओं सहित अवतीर्ण हो) सर्वकर्माणि साधय स्वाहा (समुदय कर्म हमसे करा लो, हम तुमको आहुति अर्पण करते हैं)।

(८) शुद्धि

यहाँ शुद्धितत्त्व चिन्तनीय है (देखो 'पूजातत्त्व')। हमें देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, आदि दिये गये थे भगवत्सत्ता उपलब्धि करने के लिये, इन तत्त्वों को भगवद् भाव से परिभावित कर, भगवत् शक्ति से शक्तिमान कर, भगवत्कार्य साधन करने के लिये। लेकिन अज्ञानता, स्वार्थपरता, प्रतिष्ठा-मोह, अहंता-ममता संस्कारादि द्वारा हमने इनको मलिन कर दिया। इसी

लिये नेत्रादि इन्द्रियों में अब दूरदर्शन, सूक्ष्मदर्शन, दिव्य दर्शन की शक्ति नहीं रही। दिव्य दर्शन लाभ किये बिना भगवद् दर्शन असम्भव है। इसके लिये योगक्रिया एवं ध्यानादि द्वारा सब तत्त्वों को, पंच भूतों को, पंचभूत सहित देहादि की सब क्रियाओं को शुद्ध करने की व्यवस्था है। आधार ठीक न हो तो भगवान को धारण कैसे किया जायगा। याद रखना चाहिए कि आदर्श नर, भगवान के सखा अर्जुन दिव्य चक्षु पाकर भी भगवद्-ज्योति सहन नहीं कर सके थे। शुद्धितत्त्व द्वारा चित्त के सब मलिन संस्कार (कामना, वासना, आसक्ति, अहंता, ममता आदि) शून्य करके भगवत् महिमा समझने की योग्यता लाभ होती है। जलशुद्धि के अन्तर्गत देहशुद्धि, आसनशुद्धि के अन्तर्गत स्थैर्य लाभ, भूतशुद्धि के अन्तर्गत आत्मा को देहाध्यास से मुक्त कर स्वरूपप्रतिष्ठ करने की व्यवस्था है।

ॐ अग्ने त्वं सर्वभूतानामन्तश्चरसि पावकः।
अतः शोधय चित्तं मे येन सत्यं बिभर्म्यहम्॥६२॥

अग्ने (हे अग्नि) त्वं पावकः [सन्] (तुम पवित्रता सम्पादक रूप में) सर्वभूतानां अन्तः चरसि (सब जीवों के अभ्यन्तर में विचरण करते हो)। अतः मे चित्तं शोधय (अतएव मेरे चित्त को शुद्ध कर दो) येन अहं सत्यं बिभर्मि (जिससे कि मैं सत्य स्वरूप को धारण कर सकूँ)।

निम्नलिखित प्रत्येक मंत्र के बाद आहुति दो :—

ॐ शिरः-पाणि-पाद पार्श्व-पृष्ठोदर-जङ्घा-
शिश्नोपस्थपायवो मे शुध्यन्ताम् ।
ॐ ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासं स्वाहा ॥६३॥

(मेरे मस्तक, हाथ, पैर, पार्श्व, पीठ, जांघ, शिश्न, उपस्थ, पायु, सब शुद्ध हो जाँय) अहं ज्योतिः (मैं ज्योतिःस्वरूप) विरजाः (रजोगुण रहित) विपाप्मा भूयासं (निष्पाप हो जाऊँ) ।

ॐ त्वक्-चर्म-मांस-रुधिर-मेदो-मज्जा-स्नायु-अस्थीनि मे-
शुध्यन्ताम् ।
ॐ ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासं स्वाहा ॥६४॥

(मेरे त्वक्, चर्म, माँस, रुधिर, मेद, मज्जा, स्नायु, अस्थि सब शुद्ध हो जाँय। अर्थात् मेरा देहतत्त्व पूर्णतः शुद्ध होकर तुम्हारी धारणा करने की योग्यता लाभ करे) ।

ॐ पृथिव्यप्-तेजो-वायु-आकाशा मे शुध्यन्ताम् ।
ॐ ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासं स्वाहा ॥६५॥

(मेरे देहस्थ पंचतत्त्व सब शुद्ध हो जाँय। मैं ज्योतिःस्वरूप निर्मल, निष्पाप हो जाऊँ। उसीके निमित्त हे अग्निदेव, यह आहुति प्रदान करता हूँ) ।

ॐ शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धा मे शुध्यन्ताम् ।

ॐ ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासं स्वाहा ॥६६॥

(मेरे देहस्थ शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध सब शुद्ध हो जाँय)

ॐ मनो वाक्-काय-कर्माणि मे शुध्यन्ताम् ।

ॐ ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासं स्वाहा ॥६७॥

(मेरे मन, वाक् , काय और समस्त कर्म शुद्ध हो जाँय) ।

ॐ प्राणापान-व्यान- समानोदाना मे शुध्यन्ताम् ।

ॐ ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासं स्वाहा ॥६८॥

(मेरे पंच प्राण शुद्ध हो जाँय) ।

ॐ वाङ्-मनश्-चक्षुःश्रोत्र-जिह्वा-घ्राण-रेतो-बुद्ध्याकूति-
संकल्पा मे शुध्यन्ताम् ।

ॐ ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासं स्वाहा ॥६९॥

(मेरे वाक्य, मन, चक्षु, श्रोत्र, जिह्वा, नासिका, रेत, बुद्धि, अभिप्राय एवं संकल्प सब शुद्ध हो जाँय) ।

ॐ आत्मा मे शुध्यताम् ।

ॐ ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासं स्वाहा ॥७०॥

(मेरी आत्मा भी शुद्ध हो जाय) ।

ॐ परमात्मा मे शुध्यताम्

ॐ ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासं स्वाहा ॥७१॥

(मेरे परमात्मा भी शुद्ध हो जाँय)।

आत्मा और परमात्मा के शुद्ध हो जाने का अर्थ है कि उनके बारे में जो मेरी गलत या विकृत धारणा है वह दूर हो जाय और प्रकृत ज्ञान प्राप्त करूँ।

ज्योतिरहं इत्यादि का अर्थ है कि 'हे अग्नि, मैं अपनी सब मलिनता, कामना, वासना, संस्कारादि तुम्हें समर्पण करता हूँ। मैं अपने प्रकृत ज्योतिर्मय, ज्ञानमय; रजोस्तमोगुण रहित स्वरूप को प्राप्त होऊँ।'

ॐ क्षुत्पिपासे क्षुत्पिपासाभ्यां स्वाहा

(क्षुत्पिपासादि अधिष्ठात्री देवताओं को इस आहुति का अंश अर्पण करता हूँ)।

ॐ कामः कामाय स्वाहा। ॐ क्रोधः क्रोधाय स्वाहा।
ॐ लोभः लोभाय स्वाहा। ॐ मोहः मोहाय स्वाहा।
ॐ मदः मदाय स्वाहा। ॐ मात्सर्यं मात्सर्याय स्वाहा।
ॐ कामना कामनायै स्वाहा ॐ वासना वासनायै स्वाहा।
ॐ अहंकारः अहंकाराय स्वाहा ॐ आसक्तिः आसक्त्यै स्वाहा।
ॐ सुखस्पृहा सुखस्पृहायै स्वाहा ॐ लोकैषणा लोकैषणायै स्वाहा
ॐ ममता ममतायै स्वाहा। ॐ अहंता अहंतायै स्वाहा।

(अर्थ—भगवद्दत्त कामादि प्रवृत्तियों में अज्ञानता और संस्कार के कारण जो मलिनता आ गयी है वह सब अग्नि में आहुति द्वारा दूर हो जाँय और इन सब को केवल भगवद् उद्देश्य पूर्ण करने में नियुक्त करूँ)।

ॐ प्राणाय स्वाहा । ॐ अपानाय स्वाहा ।
ॐ समानाय स्वाहा । ॐ उदानाय स्वाहा ।
ॐ व्यानाय स्वाहा ।

(पंच प्राणों की आहुति देने का अर्थ है कि ये सब शुद्ध होकर अपना- अपना कार्य करने में समर्थ हों) ।

ॐ ऋषिभ्यः स्वाहा । ॐ पितृभ्यः स्वाहा ।
ॐ जीवेभ्यः स्वाहा । ॐ देवेभ्यः स्वाहा ।
ॐ परमात्मने स्वाहा । ॐ ब्रह्मणे स्वाहा ।
ॐ विष्णवे स्वाहा । ॐ रुद्राय स्वाहा ।।७२।।

(ऋषिगण तृप्त होकर अपनी आविष्कृत ब्रह्मविद्या का स्फुरण करें । पितृगण अभावमुक्त और स्वरूपप्रतिष्ठ होकर हमारे सम्मुख शुद्ध स्वरूप में प्रगट हों और हमारा प्रकृत कल्याण करें । परमात्मा तथा देवताओं के सम्बन्ध में हमारी विकृत धारणा दूर हो जाय और उनका प्रकृत स्वरूप दर्शन लाभ करने में अग्नि हमारी सहायता करें) ।

(९) इष्ट देवता का हवन

तत्त्व और उनकी वृत्तियाँ शुद्ध हो जाने पर साधक के निकट इष्टतत्त्व का स्फुरण होता है । इष्टदेव ही हमारे सत्ता, चैतन्य और आनन्द के मूल स्रोत है—यह तत्त्व अनुभव में आने पर इष्ट को आत्मनिवेदन स्वाभाविक हो जाता है । तब समझ

में आता है कि वे सर्वस्वरूप हैं, सब कर रहे हैं, हम केवल अहं-कार के वश होकर दुःख भोग रहे थे। इष्टदेव को आत्मनिवेदन कर साधक इष्टमय हो जाता है। देवभावापन्न हुए बिना देवता की पूजा असम्भव है।

ॐ त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान् मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ॥
ॐ हूं जुं सः ॐ नमः शिवाय स्वाहा ॥७३॥

—तीन बार आहुति दो।

सुगन्धिं पुष्टिवर्धनं त्र्यम्बकं यजामहे (सुगन्धयुक्त, पुष्टि और अभ्युदय प्रदानकारी त्र्यम्बक महामृत्युंजय भगवान शिव की हम आराधना करते हैं)। [सः मां] मृत्योः बन्धनात् (वह मुझको मृत्युरूप संसार-बन्धन से) उर्वारुकम् इव (पकी हुई फली की तरह अर्थात् पकी हुई फली जैसे अपने आप फटके गिर जाती है उसी तरह) मुक्षीय (मुक्त करें) मा अमृतात् (अमृत से मैं कभी विच्युत न होऊँ)।

ओम् ह्रीं दुर्गायै स्वाहा ॥७४॥

(तीन बार आहुति दो)।

ओम् क्लीं कृष्णाय स्वाहा ॥७५॥

(तीन बार आहुति दो)।

(शिव, दुर्गा, कृष्ण, आदि में जिसका जो इष्ट हो वही मंत्र पढ़कर आहुति देनी चाहिए)

(१०) आवरण मोचन

अब साधक अपने और श्री भगवान के बीच सामान्य व्यवधान भी सहन नहीं कर सकता। इसलिए हिरण्मय आवरण के भी दूर करने के लिये प्रार्थना करता है। यह आवरण दूर करना साधक के हाथ में नहीं है—यह भगवत् कृपा से होता है। गोपियों का वस्त्रहरण तत्त्व यहाँ चिन्तनीय है। याद रखना चाहिए कि गोपियों का वस्त्र था परा, पश्यन्ती मध्यमा और वैखरी रूप आवरण—इनके दूर हो जाने पर सर्वत्र भगवद्दर्शन स्वाभाविक हो जाता है।

ओम् हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत् त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥७६॥

हिरण्मयेन पात्रेण (हिरण्मय पात्र द्वारा अर्थात् ज्योतिर्मय आवरण द्वारा) सत्यस्य मुखं अपिहितं (सत्य का मुख ढका हुआ होता है)। पूषन्! (हे पूषादेव) त्वं सत्यधर्माय दृष्टये (तुम मुझे सत्य दर्शन करने के लिये) तत् अपावृणु (उस आवरण को हटा दो)।

(११) महाव्याहृति हवन अथवा महाकर्षणानुभूति

जैसे शुद्ध लोहा चुम्बक की ओर आकृष्ट होता है उसी प्रकार शुद्धचित्त साधक भी सब तरफ से भगवान की ओर आकृष्ट होता है। इस समय साधक सब भूतों में भगवान का आह्वान, भगवान की मुरलीध्वनि सुनकर अवनत हो जाता

है। महा-आकर्षण अनुभव कर साधक सबको प्रणाम करने लगता है।

ओम् भूः स्वाहा इदमग्नये। —आहुति दो।

ओम् भुवः स्वाहा इदम् वायवे। —आहुति दो।

ओम् स्वः स्वाहा इदम् सूर्याय। —आहुति दो।

ओम् भूर्भुवः स्वः स्वाहा इदं परमज्योतिषे ॥७७॥

—आहुति दो।

भूः स्वाहा इदमग्नये (पृथिवी को दी हुई यह आहुति तद् अभिन्न अग्नि देवता के पास पहुँचे)। भुवः स्वाहा इदं वायवे (अन्तरिक्षलोक को दी हुई यह आहुति तद् अभिन्न वायु देवता को समर्पित हो) स्वः स्वाहा इदं सूर्याय (स्वर्गलोक को दी हुई यह आहुति द्युलोकस्थान सूर्यदेव को समर्पित हो) भूर्भुवः स्वः स्वाहा इदं परमज्योतिषे (भूर्लोक, भुवर्लोक और स्वर्लोक को दी हुई यह आहुति परम ज्योतिःस्वरूप परम ब्रह्म को समर्पित हो)। इस अवस्था में साधक सब शब्दस्पर्शादि के भीतर भगवान का आह्वान सुनता है।

(१२) शुद्ध चित्त को भगवद्भाव से पूर्ण करना

अभी तक आधार-पात्र संस्कार-गोबर से भरा हुआ था,

इसलिये भगवान् उसमें अमृत नहीं दे सके। अब आधार शुद्ध हुआ तो सब तत्व, भगवत्-कृपा से, दिव्य दर्शन लाभ कर भगवद् भाव से पूर्ण हो गये। फलस्वरूप सबभूत में भगवद् दर्शन स्वाभाविक हो गया।

कामादिका रिपुगणा महसैव नष्टाः
प्लुष्टाश्च मे हृदिशयाः सकलास्तु कामाः।
शून्यं मदीय-हृदयं करुणामय त्व
ऐशेन भाव-निचयेन परिपूरयस्व ॥७८॥

महसा एव (तुम्हारे तेज से ही) कामादिकाः रिपुगणाः नष्टाः (कामादि रिपुगण विनष्ट हो गये)। मे हृदिशयाः सकलाः कामाः तु (मेरे हृदयस्थ सब कामादि भी) प्लुष्टाः च (भस्म हो गये)। करुणामय त्वं शून्यं मदीयहृदयं (हे करुणामय अग्निदेव, तुम मेरे शून्य हृदय को) ऐशेन भावनिचयेन परिपूरयस्व (ऐश्वरिक भाव-समूह से परिपूर्ण कर दो)।

(निम्न लिखित प्रत्येक मंत्र के बाद आहुति दो)।

ओम् बलमसि बलं मयि धेहि स्वाहा ।
ओम् वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि स्वाहा ।
ओम् सहोऽसि सहो मयि धेहि स्वाहा ।
ओम् तेजोऽसि तेजो मयि धेहि स्वाहा ।
ओम् शुद्धोऽसि शुद्धिं मयि धेहि स्वाहा ।
ओम् बुद्धोऽसि बुद्धिं मयि धेहि स्वाहा ।

ओम् मुक्तोऽसि मुक्तिं मयि धेहि स्वाहा ।
ओम् शान्तोऽसि शान्तिं मयि धेहि स्वाहा ।
ओम् शिवोऽसि शिवं मयि धेहि स्वाहा ।
ओम् सुन्दरोऽसि सौन्दर्यं मयि धेहि स्वाहा ।
ओम् सत्यमसि सत्यं मयि धेहि स्वाहा ।
ओम् स्थैर्यमसि स्थैर्यं मयि धेहि स्वाहा ।
ओम् ज्ञानमसि ज्ञानं मयि धेहि स्वाहा ।
ओम् आनन्दोऽसि आनन्दं मयि धेहि स्वाहा ॥७९॥

(तुम बल, वीर्य, सहन शक्ति, आदि स्वरूप हो, मुझमें यह सब गुण आधान करो)।

(१३) द्वन्द्व भाव दूरीकरण

द्वन्द्व भाव, भेद भाव रहते हुए भगवत् प्राप्ति असम्भव है। अब साधक के चित्त से समस्त द्वन्द्व भाव अपने आपही दूर होने लगे। तब साधक अमूढ़ हो गया और भगवान् के अमर धाम में प्रवेश करने का अधिकार लाभ किया। "द्वन्द्वै-र्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैः गच्छन्ति अमूढाः पदमव्ययं तत्"—(गीता १५।५।)

ओम् धर्माय स्वाहा। ओम् अधर्माय स्वाहा ।
ओम् वैराग्याय स्वाहा । ओम् अवैराग्याय स्वाहा ।

ओम् ज्ञानाय स्वाहा। ओम् अज्ञानाय स्वाहा।
ओम् ऐश्वर्याय स्वाहा। ओम् अनैश्वर्याय स्वाहा ॥८०॥

(१४) व्याकुलता प्रार्थना

अब साधक सम्पूर्णतः भगवान को प्राप्त करने के लिये व्याकुल है। गोपियों का कृष्णानुशीलन तत्व यहाँ आस्वादनीय है। अब साधक प्रत्येक पदार्थ में प्रियतम को देखना चाहता है और जिससे भी मिलता है उसको अपना सर्वस्व अर्पण कर सहायता के लिये प्रार्थना करता है। 'इतर-राग-विस्मरण' सिद्ध हो गया—भगवान को छोड़कर अब और कुछ भी अच्छा नहीं लगता। इस अवस्था में आरम्भ होती है ब्रजगोपियों की तरह सब पदार्थों से भगवद्-दर्शन करा देने के लिये प्रार्थना।

ओम् यत्र ब्रह्मविदो यान्ति, दीक्षया तपसा सह
ओम् अग्निः मतत्र नयतु, अग्निर्मेधा दधातु मे
ओम् अग्नये स्वाहा इदमग्नये इदन्न मम ॥८१॥

यत्र (जहाँ) ब्रह्मविदः दीक्षया तपसा सह यान्ति (दीक्षा और तपस्या के बल से ब्रह्मविद्गण जाते हैं) अग्निः मा तत्र नयतु (हे अग्निदेव मुझे वहीं ले चलें)। अग्निः मे मेधा दधातु (अग्निदेव मुझे मेधा प्रदान करें)। अग्नये स्वाहा (अग्नि में आहुति देता हूँ) इदम् अग्नये (यह अग्नि का ही है) इदम् न

मम (यह मेरी नहीं है)। ८१ से ८८ श्लोक तक का अर्थ इसी प्रकार है।

ओम् यत्र ब्रह्मविदो यान्ति, दीक्षया तपसा सह
ओम् वायुः मा तत्र नयतु, वायुः प्राणान् दधातु मे
ओम् वायवे स्वाहा, इदं वायवे इदन्न मम ॥८२॥
ओम् यत्र ब्रह्मविदो यान्ति, दीक्षया तपसा सह
ओम् सूर्यो मा तत्र नयतु, चक्षुः सूर्यो दधातु मे
ओम् सूर्याय स्वाहा, इदं सूर्याय इदन्न मम ॥८३॥
ओम् यत्र ब्रह्मविदो यान्ति, दीक्षया तपसा सह
ओम् चन्द्रो मा तत्र नयतु, मनश्चन्द्रो दधातु मे
ओम् चन्द्राय स्वाहा, इदं चन्द्राय इदन्न मम ॥८४॥
ओम् यत्र ब्रह्मविदो यान्ति, दीक्षया तपसा सह
ॐ सोमो मा तत्र नयतु, पयः सोमो दधातु मे
ॐ सोमाय स्वाहा, इदं सोमाय इदन्न मम ॥८५॥
ॐ यत्र ब्रह्मविदो यान्ति, दीक्षया तपसा सह
ॐ इन्द्रो मा तत्र नयतु, बलमिन्द्रो दधातु मे
ॐ इन्द्राय स्वाहा, इदं इन्द्राय इदन्न मम॥ ८६॥
ॐ यत्र ब्रह्मविदो यान्ति, दीक्षया तपसा सह
ॐ आपो मा तत्र नयन्तु, अमृतं मोपतिष्ठतु

ॐ अद्भ्यः स्वाहा, इदमद्भ्यः इदन्न मम ॥८७॥
ॐ यत्र ब्रह्मविदो यान्ति, दीक्षया तपसा सह
ॐ ब्रह्मा मा तत्र नयतु, ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे
ॐ ब्रह्मणे स्वाहा, इदं ब्रह्मणे इदन्न मम ॥८८॥

प्राणान (प्राणशक्ति); सोमः (सोमदेव); पयः (प्राण संजीवन रस); अमृतं मा उपतिष्ठतु (अमरत्व मुझको प्राप्त हो जाय); मे ब्रह्म दधातु (मुझे वेदज्ञान प्रदान करो)।

(१५) सर्वभूत में भगवद्दर्शन

साधक की इस अवस्था में भगवान दर्शन दिये बिना नहीं रह सकते। अहंकार का व्यवधान दूर हो जाने पर भगवान् साधक के भीतर आत्मप्रकाश करते हैं। अब साधक सब भूतों में सब पदार्थों में भगवान को ही देखता है। सर्वत्र भगवद्दर्शन, सर्वत्र नति, सर्वत्र आत्मानुभूति स्वाभाविक हो जाती है। इस अवस्था का संगीत है.....“जित देखौं तित श्याममयी है”।

ॐ पृथिव्यै स्वाहा। ॐ अद्भ्यः स्वाहा।
,, अग्नये स्वाहा। ॐ वायवे स्वाहा।
,, दिवे स्वाहा। ॐ अन्तरिक्षाय स्वाहा।
,, नक्षत्रेभ्यः स्वाहा। ॐ कुबेराय स्वाहा।
,, वरुणाय स्वाहा। ॐ रुद्राय स्वाहा।

ॐ पशुपतये स्वाहा । ॐ भुवनपतये स्वाहा ।
,, भूतानां पतये स्वाहा । ॐ प्रजापतये स्वाहा ।
,, नवग्रहेभ्यः स्वाहा । ॐ दशदिक्पालेभ्यः स्वाहा ।
,, ओषधिवनस्पतिभ्यः स्वाहा । ॐ भूतेभ्यः स्वाहा ।
,, मनुष्येभ्यः स्वाहा । ॐ देवेभ्यः स्वाहा ।
ॐ परमेष्ठिने स्वाहा ॥८९॥

(१६) भावनात्मक यज्ञ

द्रव्यात्मक यज्ञ तक जीव का काम है। इस क्रिया से सब तत्त्व शुद्ध हो जाते हैं और भगवत्तत्व उपलब्धि की योग्यता लाभ होती है। चित्त जब जगत के प्रति शून्य हो जाता है तो भगवान उस खाली चित्त को भगवद्भाव से भर देते हैं। तब साधक भगवद्भाव से परिभावित होकर भीतर एवं बाहर भगवान का कार्य-कलाप अर्थात् भगवल्लीला दर्शन करने की योग्यता लाभ करता है। यहाँ तक ध्याता और ध्येय पृथक् रूप में उपलब्ध होते हैं। इसके बाद आरम्भ होता है सामवेद का भावनात्मक यज्ञ। साधक के सब तत्त्व भगवद्भाव से भरपूर हो जाने पर वह अपने प्रत्येक तत्त्व की क्रिया में भगवान का कार्यकलाप, उनका यज्ञकाण्ड अनुभव करता है। साधक अपने भीतर भगवान की लीला दर्शन कर विमोहित हो जाता है। आँख खोलने की इच्छा नहीं होती कि कहीं दर्शन लोप न हो जाय । किन्तु भगवान सर्वत्र लीलानुभूति के लिए जोर

करके साधक की आँखें खोल देते हैं तब साधक बाहर के सब तत्त्वों में भी भगवान का अस्तित्व भगवान की लीला दर्शन कर समाधिमग्न हो जाता है। आँख खोलने पर जाग्रत समाधि, आँख बन्द करने पर स्वप्न समाधि। साधक सच्चिदानन्द ज्योतिर्मय रूप के दर्शन करता है।

ॐ सच्चिदानन्द-देवेशो भास्वरः सर्वरूपधृक्।
सर्वेषामन्तः तिष्ठन् हि गृह्णातु हव्यमुत्तमम् ॥९०॥

सच्चिदानन्द-देवेशः (सच्चिदानन्द स्वरूप, देवताओं के भी ईश्वर) भास्वरः (ज्योतिर्मय) सर्वरूपधृक् (विश्वरूप भगवान) सर्वेषाम् अन्तः तिष्ठन् हि (सब में अन्तर्यामी रूप से स्थित हुए) उत्तमं हव्यम् गृह्णातु (इस उत्तम हवि को ग्रहण करें)।

त्वं सर्वभूतेषु विराजसे सदा
सर्वेषु जीवेष्वसि जीवनं स्वयम्।
त्वद्दर्शनं सर्वग मेऽस्तु सर्वतः
तवैव पूजास्तु च कर्मभिर्मम ॥९१॥

त्वं सर्वभूतेषु सदा विराजसे (तुम सब सृष्ट पदार्थों में सर्वदा विराजमान हो) सर्वेषु जीवेषु स्वयं जीवनम् असि (सब जीवों के तुम ही जीवन हो) सर्वग (हे सर्वव्यापी) त्वद्दर्शनं मे सर्वतः अस्तु (मुझे सर्व प्रकार तुम्हारा दर्शन हो) मम कर्मभिः तव एव पूजा अस्तु च (मेरे सब कर्मों द्वारा तुम्हारी पूजा हो)।

यतो वा प्रसूतं कर्म यतः परिसमाप्यते ।
स वै विष्णुः स्वयं यज्ञः सकलं तस्य कर्म च ॥९२॥

यतः वा कर्म प्रसूतं (जिनसे सब कर्मों की उत्पत्ति होती है) यतः परिसमाप्यते (और जिनमें सब कर्म समाप्त होते हैं) स वै विष्णुः स्वयं यज्ञः (वे विष्णु ही स्वयं यज्ञ हैं) सकलं तस्य कर्म च [यज्ञः] (और उनका समुदय कर्म यज्ञस्वरूप है)।

कायेन मनसा वाचा सकलैरिन्द्रियैरपि ।
यद् वै विधीयतेऽस्माभिः तत्रास्तु मखदर्शनम् ॥९३॥

कायेन मनसा वाचा (शरीर, मन और वाक्य द्वारा) सकलै इन्द्रियैः अपि (एवं सब इन्द्रियों द्वारा) यत् वै अस्माभिः विधीयते (जो कुछ हमसे किया जाता है) तत्र मखदर्शनम् अस्तु (उस सबमें हमें यज्ञदर्शन हो) अर्थात् हम शरीर, मन, वाणी एवं इन्द्रियों के समस्त कर्म यज्ञ-ज्ञानसे कर सकें।

ॐ यत्करोमि यदश्नामि यज्जुहोमि ददामि यत् ।
यत् तपस्यामि गोविन्द तत् करोमि त्वदर्पणम् ॥९४॥

यत् करोमि (मैं जो कुछ करता हूँ) यत् अश्नामि (जो कुछ खाता हूँ) यत् जुहोमि (जो कुछ आहुति देता हूँ) यत् ददामि (जो कुछ दान करता हूँ) यत् तपस्यामि (जो कुछ तपस्या करता हूँ) गोविन्द तत् त्वदर्पणम् करोमि (हे गोविन्द, वह सब तुम्हीं को अर्पण करता हूँ)।

ॐ यत् कृतं यत् करिष्यामि

तत् सर्वं ब्रह्मार्पणं भवतु स्वाहा ॥९५॥

(मैंने जो कुछ किया है और जो कुछ करूँगा वह सब पर ब्रह्म को समर्पित हो जाय—इस उद्देश्य से यह आहुति देता हूँ)।

—आहुति दो।

ॐ यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते

येन जातानि जीवन्ति।

यत् प्रयन्ति अभिसंविशन्ति

तस्मै परमात्मने जुहोमि स्वाहा ॥९६॥

—आहुति दो।

यतः वा इमानि भूतानि जायन्ते (जिनसे निस्सन्देह सब भूतों की उत्पत्ति होती है) येन जातानि जीवन्ति (जिनकी शक्ति से उत्पन्न होकर जीवित रहते हैं) यत् प्रयन्ति अभि-संविशन्ति (जिनमें लय होकर परम विश्रान्ति लाभ करते हैं) तस्मै परमात्मने जुहोमि स्वाहा (उन पर ब्रह्म को मैं आहुति देता हूँ)।

ॐ यस्मिन् सर्वे यतः सर्वे यः सर्वः सर्वतश्च यः।

यश्च सर्वमयो देवः तस्मै परमात्मने जुहोमि स्वाहा ॥९७॥

यस्मिन् सर्वे (जिनमें सबकी स्थिति है) यतः सर्वे (जिनसे

सबकी उत्पत्ति है) यः सर्वः (जो सब हैं अर्थात् जिनके आश्रय से सबका अस्तित्व है) यः सर्वतः च (एवं जो सर्वत्र हैं अर्थात् सब में व्याप्त हैं) यः सर्वमयः देवः च (जो सर्वमय देवता है) तस्मै परमात्मने जुहोमि स्वाहा (उन परम ब्रह्म को आहुति देता हूँ) ।

यः पृथिव्या अग्नौ वायौ आकाशे प्राणेषु
मनसि विज्ञानेऽन्तरिक्षे दिवि अदित्ये दिक्षु चंद्रे
तारासु तमसि तेजसि चक्षुषि श्रोत्रे त्वचि रेतसि
वाचि गुरौ पित्रौः बन्धुबान्धवादि-सर्वभूतेषु
तिष्ठन्नेतेषां सर्वेषां आत्माऽन्तर्यामी अमृतः, तस्मै
परमात्मने जुहोमि स्वाहा ॥९८॥

आहुति दो

यः (जो पृथिव्याम् इत्यादि (पृथिवी, जल वायु, अग्नि, आकाश, प्राण, मन, विज्ञान, अन्तरिक्ष, द्युलोक, आदित्य दिशाएँ, चन्द्र, तारका, तम, तेज, चक्षु, कर्ण, त्वक् , रेत, वाक् पितृगण, बन्धुबान्धवादि सब भूतों में) तिष्ठन् (अवस्थित हुए) एतेषां सर्वेषां अन्तर्यामी आत्मा (इन सबके अन्तर्यामी आत्मा हैं) अमृतः (एवं अविनाशी हैं) तस्मै परमात्मने जुहोमि स्वाहा (उन परमात्मा को यह आहुति अर्पण करता हूँ) ।

य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद्
वर्णाननेकान् निहितार्थो दधाति ।
यमात्मस्थं अनुपश्यन्ति धीराः
तस्मै परमात्मने जुहोमि स्वाहा ॥९९॥

—आहुति दो ।

यः एकः अवर्णः(जो अद्वितीय अरूप हैं) बहुधा शक्तियोगात् (नानाविध शक्ति के प्रभाव से) निहितार्थः (सब पदार्थों में अनुप्रविष्ट हुए) अनेकान् वर्णान् दधाति (विचित्र रूप प्रदान करते हैं) धीराः आत्मस्थं यम् अनुपश्यन्ति (समाहितचित्त मुनिगण जिनको आत्मरूप में उपलब्धि करते हैं) तस्मै परमात्मने जुहोमि स्वाहा (उन परमात्मा की तृप्ति के लिये मैं हवन करता हूँ) ।

ॐ श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो
यद् वाचो ह वाचम् ।
स उ प्राणस्य प्राणः चक्षुषश्चक्षुः
तस्मै परमात्मने जुहोनि स्वाहा ॥१००॥

—आहुति दो ।

यत् श्रोत्रस्य श्रोत्रं (जो कानों की श्रवणशक्ति) मनसः मनः (मन की मनन शक्ति) वाचः ह वाचम् (वागिन्द्रिय की भी वाक्शक्ति हैं) स उ प्राणस्य प्राणः (वे ही प्राण की

स्पन्दन शक्ति) चक्षुषः चक्षुः (नेत्रों की दर्शन शक्ति हैं) तस्मै परमात्मने जुहोमि स्वाहा (उन्हीं परमात्मा के निमित्त यह आहुति देता हूँ) ।

[अन्तःकरणवृत्तिभिः] सर्ववेद्यं हव्यम्
इन्द्रियाणि स्रुचः, शक्तयो ज्वालाः,
स्वात्मा शिवः, पावकः स्वयमेव होता ॥१०१॥

(अन्तःकरण की वृत्तियों द्वारा) जो कुछ भी मेरे ज्ञान का विषय है वह सब हवनीय द्रव्य है । सब इन्द्रियाँ उस हवन की अर्पण (आहुति देने के पात्र) हैं । प्राणादि शक्तियाँ उस यज्ञाग्नि की शिखा हैं । मेरा आत्मा उस हवन की मंगल अग्नि है और मैं स्वयं होता हूँ ।

अन्तर्निरन्तरम् अनिन्धनमेधमाने
मोहान्धकार-परिपन्थिनि संविदग्नौ ।
कस्मिंश्चिद् अद्भुत-मरीचि-विकाशभूम्नि
विश्वं जुहोमि वसुधादि शिवावसानम् ॥१०२॥

—आहुति दो ।

अन्तः (साधक के अन्तःकरण में) अनिन्धनम् (इंधन रहित होते हुए भी) निरन्तरम् एधमाने (सर्वदा जो अग्नि प्रज्वलित है) मोहान्धकारपरिपन्थिनि (मोहरूप अन्धकार की विनाशक) अद्भुत-मरीचि-विकाशभूम्नि (वह दिव्य किरण

जिस भूमि से प्रस्तुत हो रही है अर्थात् मातृका चक्र विकसित) कस्मिंश्चित् संविदग्नौ (उसी लोकोत्तर संविद्रूप अग्नि में) वसुधादि शिवावसानम् विश्वं (पृथिवी तत्त्व से शिव तत्त्व तक ३६ तत्त्वात्मक इस विश्व-प्रपंच को) जुहोमि (मैं आहुति देता हूँ)।

अर्थात् पृथिवी तत्त्व से लेकर शिवतत्त्व तक जो ३६ तत्त्व हैं और उन तत्त्वों से रचा हुआ जो यह विश्व है उन सबको मैं संविद्रूप अग्नि में—विशुद्ध महा चैतन्य में—आहुति देता हूँ। मोहान्धकार नाशक यह अलौकिक अग्नि निरन्तर हृदय में वृद्धि प्राप्त कर रही है।

धर्माधर्म-हविः दीप्तावात्माग्नौ मनसा स्रुचा ।
सुषुम्ना-वर्त्मना नित्यं अक्षवृत्तीः जुहोम्यहम् ॥१०३॥

—आहुति दो ।

अहम् (मैं) धर्माधर्महविः (धर्म एवं अधर्म रूप हवि को) दीप्तौ आत्माग्नौ (प्रज्वलित आत्मारूप अग्नि में) मनसा स्रुचा (मनोरूप स्रुक् अथवा होता द्वारा) सुषुम्नावर्त्मना (सुषुम्ना नाड़ी पथ में) नित्यम् (सर्वदा) अक्षवृत्तीः (चक्षुरादि इन्द्रियों की वृत्तियों को) जुहोमि (आहुति देता हूँ)।

होमेन चेतनां जित्वा ध्यायेदात्मानम् आत्मना ॥१०४॥

द्वे आहुती जुहोत्येते अग्निहोत्रविधानतः ।
ममतां प्रथमं हुत्वा अहन्ताञ्च जुहुयात्ततः ॥१०५॥

—आहुति दो ।

(अर्थ—पूर्वोक्त हवन द्वारा चेतना अर्थात् द्वैत चेतना पर विजय प्राप्त कर मन द्वारा आत्मा का ध्यान करना चाहिए। अग्निहोत्र विधान के अनुसार दो आहुति देने का नियम है। पहले ममता को आहुति देकर पीछे अहन्ता को भी आहुति दे देना चाहिए)।

इयं पृथिवी, इमा आपः, अयमग्निः, अयं वायुः,
अयमाकाशः, अयमादित्यः, अयं चन्द्रः, इयं विद्युत्,
इमा दिशः, अयं धर्मः, इदं सत्यं, अयं मानुषः,
इमानि भूतानि, अयमात्मा, सर्वेषां भूतानां मधु,
एतेषां सर्वाणि भूतानि मधु, य एतेषु तेजोमयो
अमृतमयः पुरुषः, स एवात्मा। अमृतं ब्रह्मेदं सर्वं।
ॐ ब्रह्मणे स्वाहा ॥१०६॥

—आहुति दो।

(अहन्ता ममता आहुति देने के फलस्वरूप साधक सर्वत्र एक ब्रह्मानुभूति लाभ करता है। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्र, विद्युत, दिशा, आदि सब में मधु ब्रह्म दर्शन करता है। तब स्वयं भी मधु और सब पदार्थ मधु दीखते हैं। यावत् प्रपंच सब पदार्थों में एक ही तेजोमय अमृतमय पुरुष हैं। वे ही आत्मा हैं, वे ही ब्रह्म हैं। उन्हीं में सब आहुत हैं)।

(१७) व्यष्टि-समष्टि होम

अब साधक अपने व्यष्टि पंचकोश समष्टि पंचकोश में आहुति देकर विशिष्टाद्वैत तत्त्व आस्वाद करने की योग्यता लाभ करता है। अनुभव में आता है कि जगद्व्यापी एक देह है और उसमें देही परमात्मा अवस्थित हैं। अब भगवान और जीव-जगत् रूप उनकी देह को छोड़कर और कुछ अवशिष्ट नहीं रहा। इसके बाद समष्टि पंचकोश परस्पर ऊपर के कोशों में आहुत होकर एकमात्र ब्रह्म में पर्यवसित हो जाते हैं—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'।

(प्रत्येक मन्त्र के बाद आहुति दो)

ॐ अन्नमयाय स्वाहा इदमन्नम्।
ॐ प्राणमयाय स्वाहा एष प्राणः।
ॐ मनोमयाय स्वाहा एतन्मनः।
ॐ विज्ञानमयाय स्वाहा एतद् विज्ञानम्।
ॐ आनन्दमयाय स्वाहा एष आनन्दः।
ॐ परमात्मने स्वाहा एष आत्मा ॥१०७॥

ॐ अन्नमयं प्राणमयाय जुहोमि स्वाहा।
ॐ प्राणमयं मनोमयाय जुहोमि स्वाहा।
ॐ मनोमयं विज्ञानमयाय जुहोमि स्वाहा।
ॐ विज्ञानमयं आनन्दमयाय जुहोमि स्वाहा।

ॐ आनन्दमयं परमात्मने जुहोमि स्वाहा ।
ॐ सर्वं खल्विदं ब्रह्म ॥१०८॥

(नीचे के कोशों को ऊपर के कोशों में क्रमशः आहुति देने पर अनुभव में आता है 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' अर्थात् दृश्य जगत सब ब्रह्म ही है) ।

ॐ अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा ।
ॐ अमृतापिधानमसि स्वाहा ।
ॐ ब्रह्मणे स्वाहा ॥१०९॥

(अर्थ—हे अमृत, तुम निम्न आवरण स्वरूप हो, तुमको आहुति देता हूँ । हे अमृत, तुम उपरितम आवरण स्वरूप हो, तुमको आहुति देता हूँ । सब ब्रह्म ही है, इसलिये ब्रह्म में आहुति देता हूँ) ।

(१८) केवलात्मक यज्ञ

केवलात्मक यज्ञमें ध्याता ध्येयमें समाहित हो जानेके कारण ध्येय तत्त्वका कुछ विलास अनुभूत होता है । यह अद्वैत सिद्धिकी परकालीन अवस्था है अर्थात् अद्वैतका लीलार्थ कल्पित द्वैतरूप (लीलार्थं कल्पितं द्वैतं अद्वैतादपि सुन्दरम्) । द्रव्यात्मक यज्ञमें साधारणतः द्वैतभाव रहता है, भावनात्मक यज्ञमें अद्वैत भावकी सिद्धि होती है और केवलात्मक यज्ञमें अद्वैतका लीला-

विलासरूप अनुभूत होता है। इस अवस्थामें मानुष, पशु, पक्षी आदि समस्त जगत लीलामें सहायक, आनन्दका वर्धक, मधुर ही मधुर दीखता है। इस अवस्थाका संगीत है—

'मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्'

(प्रत्येक मंत्रके बाद आहुति दो)

ॐ ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥

ॐ ब्रह्मणे स्वाहा ॥११०॥

ॐ सर्वं खल्विदं ब्रह्म । ॐ ब्रह्मणे स्वाहा ॥१११॥

अर्पणं ब्रह्म (अर्पण यन्त्र ब्रह्म है) हविः ब्रह्म (अर्पणके द्रव्य घृतादि भी ब्रह्म हैं) ब्रह्माग्नौ (जिस अग्निमें हवन किया किया जा रहा है वह भी ब्रह्म है) ब्रह्मणा हुतम (हवन करनेवाला भी ब्रह्म है)। ब्रह्मकर्मसमाधिना तेन (इस ब्रह्मयज्ञ अनुष्ठानकारी द्वारा) ब्रह्म एव गन्तव्यम् (जो लाभ होगा वह भी ब्रह्म ही है)। इस प्रकार जीवकी व्यष्टि चेतना एवं अनुभव समष्टि अर्थात् जीवका जगद्-व्यवहार तुच्छ वस्तु नहीं हैं। ये परिच्छिन्न होते हुए भी चैतन्य उपादानमें ही गठित हैं। इनको एकीभूत करके समष्टिचैतन्य समुद्रमें निमज्जित कर देनेसे जीवयज्ञकी पूर्णाहुति हो जाती है।

ॐ अहं ते मधु, त्वं मे मधु,

ॐ तुभ्यं स्वाहा, ॐ मह्यं स्वाहा ।

ॐ प्रियाय प्राणाय स्वाहा ।

ॐ आत्मने परमात्मने स्वाहा ।

ॐ प्रियाय प्रियतमाय प्राणाय परमात्मने स्वाहा॥११२॥

अहं ते मधु (मैं भी तुम्हारे लिये मधुर हूँ) त्वं मे मधु (तुम भी मेरे लिये मधुर हो) तुभ्यं स्वहा मह्यं स्वाहा (तुम्हें भी आहुति देता हूँ, अपनेको भी आहुति देता हूँ)। प्रियाय प्राणाय स्वाहा (प्राणस्वरूप प्रियको आहुति देता हूँ)। आत्मने परमात्मने स्वाहा (आत्मा और परमात्मा अभिन्न हैं—उनको भी आहुति देता हूँ)। प्रियाय प्रियतमाय प्राणाय परमात्मने स्वाहा (परमात्मा ही प्रिय, प्रियतम एवं प्राण हैं—उन्हें आहुति देता हूँ)।

ॐ मधुवाता ऋतायते, मधु क्षरन्ति सिन्धवः
माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः ।

ॐ मधु नक्तमुतोषसो, मधुमत् पार्थिवं रजः
मधु द्यौरस्तु नः पिता ।

ॐ मधुमान्नो वनस्पतिः, मधुमानस्तु सूर्यः
माध्वीर्गावो भवन्तु नः ।

ॐ मधु ॐ मधु ॐ मधु ॥११३॥

वाता मधु ऋतायते (वायु सब ऋतुओंमें मधु वहन करे) सिन्धवः मधु क्षरन्ति (सब नदियाँ मधु क्षरण करें) न ओषधीः माध्वीः सन्तु (हमारे ओषधि वृक्ष मधुमय हों) मधु नक्तम् उतोषसः (रात्रि और प्रभात मधुमय हों) पार्थिवं रजः मधुमत् (पृथिवीके रजकण सब मधुमय हों) द्यौः मधु अस्तु (आकाश मधुमय हो) नः पिता (हमारे पितृलोक मधुमय हों) नः वनस्पतिः मधुमान् (हमारी वनस्पतियाँ मधुमय हों) सूर्यः मधुमान् अस्तु (सूर्यदेव मधुमय हो) नः गावः माध्वीः भवन्तु (हमारी गोमाताएँ मधुमय हों)। ॐ मधु ॐ मधु ॐ मधु (सर्वत्र मधु, सब मधु, केवल मधु ही हो)।

(१९) पूर्णाहुति

इस समय साधककी सब इन्द्रियाँ पूर्णता को प्राप्त हो जाती हैं और वह स्वयं पूर्ण होकर पूर्णस्वरूपको पूर्णतः आस्वाद करनेकी योग्यता लाभ करता है। तब अनुभव में आता है कि सब कुछ भगवान से ही आता है और भगवान में ही जाकर लीन हो जाता है। भूत-भविष्य-वर्तमान के सब कर्म भगवान की लीला हैं; मेरा पृथक अस्तित्व कुछ भी नहीं है। अब आहुतियाँ पूर्णता को प्राप्त हो जाती हैं अन्तमें शिवावसान सब इदंतत्व शिवमें आहुत होकर एक पूर्णाहन्ता शिवतत्व बाकी रहता है।

(एक पान, एक सुपारी और एक केला या और कोई साबुत फल घी लगाकर हाथ में लो और खड़े होकर यह श्लोक पढ़ो)।

त्वं पूर्णोऽसि तव विश्वमिदं च पूर्णं
पूर्णस्तावकविधिः यमनुप्रायन्ति ।
ब्रह्माद्या दिविषदो भुवनेश तुभ्यं
दत्तं मेऽन्तिमं हविः पूर्णतापत्त्यै ॥११४॥

त्वं पूर्णः असि (तुम पूर्णस्वरूप हो) इदं तव विश्वं च पूर्णं (तुम्हारा यह विश्व भी पूर्ण है) तावकविधिः पूर्णः (तुम्हारा विधान भी पूर्ण है) यं ब्रह्माद्याः दिविषदः अनुप्रयान्ति (जिस विधान का ब्रह्मादि देवता भी पालन करते हैं)। भुवनेश (हे अखिल भुवन के अधिपति) मयि पूर्णतापत्त्यै (अपनी पूर्णता के लिये) मे अन्तिमं हवि (मेरी यह अन्तिम आहुति) तुभ्यं दत्तं (तुमको अर्पण करता हूँ)।

इदं मे हवनं कर्म तुभ्यमस्तु समर्पितम् ।
तर्पिताः सन्तु जीवाश्च त्वदिच्छा पूर्णतामियात् ॥११५॥

इदं मे हवनं कर्म (मेरा यह हवन कर्म) तुभ्यं समर्पितम् अस्तु (तुमको समर्पित हो) जीवाः च तर्पिताः सन्तु (इसके द्वारा तुम्हारे सब जीवों की तृप्ति हो) त्वदिच्छा पूर्णताम् इयात् (तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो)।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥११६॥

पूर्णम् अदः (परमात्मा पूर्ण हैं) पूर्णम इदं (यह विश्व-संसार भी पूर्ण है) पूर्णात् पूर्णम् उदच्यते (पूर्ण ब्रह्म से ही पूर्ण विश्व-ब्रह्माण्ड उद्भूत हुआ है) पूर्णस्य पूर्णं आदाय (पूर्ण में से पूर्ण ग्रहण कर) पूर्णं एव अवशिष्यते (पूर्ण ही अवशिष्ट रहता है अर्थात् पूर्ण की कोई हानि नहीं होती) ।

ॐ इतः पूर्वं प्राण-बुद्धि-देह-धर्माधिकारतो,
जाग्रत्-स्वप्न-प्रसुप्त्यवस्थासु,
मनसा वाचा हस्ताभ्यां पद्भ्यामुदरेण शिश्ना,
यद् यत् स्मृतं यदुक्तं यत् कृतं तत् सर्वं,
ॐ ब्रह्मार्पणं भवतु स्वाहा ॥ ११७ ॥

इतः पूर्वं (इससे पूर्व काल में अथवा पूर्व जन्मों में) प्राण-बुद्धि-देह-धर्माधिकारतः (प्राण-बुद्धि-देह और धर्म के अधिकारानुसार) जाग्रत्-स्वप्न-प्रसुप्त्यवस्थासु (जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थामें) मनसा वाचा हस्ताभ्यां पद्भ्यामुदरेण शिश्ना (मन, वाणि, हस्त, पद, उदर एवं शिश्न द्वारा) यद् यत् स्मृतं (जो कुछ स्मरण किया गया हो) यत् उक्तं (जो कहा गया हो यत् कृतं (जो किया गया हो) तत् सर्वं (वह सब) ब्रह्मार्पणं भवतु स्वाहा (ब्रह्म को समर्पित हो जाय) ।

मां मदीयं सकलं सम्यक्

ॐ परब्रह्मणे जुहोमि स्वाहा ॥ ११८ ॥

(मैं अपने-आपको और मेरा कहकर जो कुछ है उस सबको परब्रह्म को समर्पण करता हूँ)।

ॐ ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म-समाधिना ॥
ॐ परमात्मने स्वाहा ॥ ११९ ॥

—फलादि की शेष आहुति दो।

(२०) वैगुण्य दूरी करण

साधक जितना भी उन्नत क्यों न हो लेकिन उसे अपने अनुष्ठान में अपूर्णता और त्रुटि ही दीखती हैं। वस्तुतः पूर्ण-स्वरूप भगवान का कार्य ही पूर्ण हो सकता है; जीव के कार्य में दोष- त्रुटि रहती ही है। इसलिये सब अनुष्ठानों के अन्त में वैगुण्य दूर करने की व्यवस्था है। भगवान् के नाम से सब वैगुण्य दूर हो जाते हैं और अपूर्णता पूर्ण हो जाती है।

ॐ कृतेऽस्मिन् हवनकर्मणि यद् वैगुण्यं जातं,
तद्दोषप्रशमनाय श्रीविष्णोः स्मरणमहं करिष्ये ।
ॐ तद् विष्णोः परमं पदं, सदा पश्यन्ति सूरयः,

दिवीव चक्षुराततम् ।

ॐ विष्णुः ॐ विष्णुः ॐ विष्णुः ॥१२०॥

अस्मिन् हवनकर्मणि कृते (मेरे इस हवन कर्म में) यत् वैगुण्यं जातं (जो त्रुटि हुई हो) तद्दोषप्रशमनाय (उस दोष की उपशान्ति के लिए) अहं श्रीविष्णोः स्मरणं करिष्ये (मैं विष्णु भगवान को स्मरण करता हूँ)।

ॐ मंत्रहीनं क्रियाहीनं भक्तिहीनं जनार्दन ।

यत् पूजितं मया देव परिपूर्णं तदस्तु मे ॥१२१॥

(हे जनार्दन, मैं मंत्रहीन, क्रियाहीन, भक्तिहीन हूँ। तुम्हारी कृपासे तुम्हारी जो कुछ पूजा मेरे द्वारा हुई है इसको तुम परिपूर्ण करदो)।

(२१) आरति

आरति के उपादान पंचतत्व के प्रतीक हैं। पृथिवी तत्व का गुण है गन्ध, उसका प्रतीक है धूप। अप् तत्व का गुण है रस, उसका प्रतीक है पाद्य (जल)। तेज तत्व का गुण है रूप, उसक प्रतीक है दीप। वायु तत्व का गुण है स्पर्श, उसका प्रतीक है चँवर या कपड़े से हवा करना। आकाश तत्व का गुण है शब्द, उसका प्रतीक है शंख और घण्टे की ध्वनि। पंचतन्मात्र (पंचतत्व) के सात्विक अंश से मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार की, राजसिक अंश से पंचप्राण की और तामसिक अंश से पंचमहा-

भूत की उत्पत्ति है। आरति के द्वारा अपने सब तत्त्वों को भगवान को निवेदन करने की व्यवस्था है। अनुभव करना चाहिए कि हमारे पास जो कुछ है वह सब उन्हीं का है, उनकी लीला के उपयोगी बनाने के लिये हैं। 'आ' मर्यादा और अभिविधि का द्योतक है, 'रति' का अर्थ है चरम मिलन। अर्थात् पहले द्वैत भाव से मर्यादा सहित ध्यान करते करते उनके साथ अभेद भावकी उपलब्धि 'रति' में पर्यवसित हो जाती है—पूर्णता लाभ करती है। आरति हवन की शेष क्रिया है, उनके साथ एकता-बोध की वाचक है।

ॐ जय जगदीश हरे, स्वामी जय जगदीश हरे।
भक्त जनन के संकट छिन में दूर करे ॥१॥ ॐ जय···।

जो ध्यावे फल पावे दुख विनशे मनका।
सुख सम्पति घर आवे कष्ट मिटे तन का ॥२॥ ॐ जय···।

मात-पिता तुम मेरे शरण गहूँ किसकी।
तुम बिन और न दूजा आस करूं जिसकी ॥३॥ ॐ जय···।

तुम पूरण परमात्मा तुम अन्तर्यामी।
पार ब्रह्म परमेश्वर तुम सबके स्वामी ॥४॥ ॐ जय···।

तुम करुणा के सागर तुम पालन कर्ता।
मैं मूरख खल कामी कृपा करो भर्ता ॥५॥ ॐ जय···।

तुम हो एक अगोचर सब के प्राणपति।
किस विधि मिलूं गुसाँई तुमको मैं कुमति ॥६॥ ॐ जय···।

दीनबन्धु दुखहर्ता रक्षक तुम मेरे ।
अपने हाथ उठाओ द्वार पड़ा तेरे ॥७॥ ॐ जय·····।
विषय विकार मिटाओ पाप हरो देवा ।
श्रद्धा भक्ति बढ़ाओ सब सन्तन की सेवा ॥८॥ ॐ जय·····।

(२२) अंजलि

(बेलपत्र, फूल, दूब, चावल लेकर यह श्लोक पाठ करके अंजलि दो) ।

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च,
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन् ।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत् किंच भूतं प्रणमाम्यनन्यः ॥
एष सचन्दनपुष्पांजलिः ॐ आकाशाद्यात्मने
यज्ञेश्वराय श्री विष्णवे नमः ॥

पुष्प सद्‌गुणों के प्रतीक हैं। त्रिबेलपत्र तीन गुणों के—आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक तत्त्वों के प्रतीक हैं। अंजलि के द्वारा हम अपने सब गुण, सब तत्त्व और सब क्रियाएँ भगवान् को अर्पण कर देते हैं। अनुभव होता है कि ये सब उन्हीं की विभूति, उन्हीं का प्रकाश हैं। अब हमारा

कहकर अहंकार करने को कुछ बाकी नहीं रहा। तब अनुभव में आता है कि कर्त्ता-कर्म-करण, भोक्ता-भोग्य-भोजन, द्रष्टा-दृश्य-दर्शन सब वे ही हैं; त्रिपुटी-भाव दूर हो जाता है और 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' भाव का स्फुरण होता है।

(२३) प्रणाम

सर्वत्र ब्रह्मानुभूति होने पर साधक का मस्तक अपने आप नत हो जाता है। प्रणाम करना साधारण बात नहीं है। प्रणाम सार्थक तभी हो सकता है जब प्रणम्य के विधान के आगे अपने सब नियम, इच्छा, ख्याल को विसर्जन करने के लिये दृढ़ प्रतिज्ञा की जाय।

ॐ अग्नये नमः। ॐ ब्रह्मतेजसे नमः।
ॐ जातवेदसे नमः। ॐ परमात्मने नमः ॥१२२॥

ॐयो देवोऽग्नौ योऽप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश।
य ओषधिषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः ॥१२३॥

ॐ यज्ञेश्वराय श्रीविष्णवे नमः ॥१२४॥

यः देवः अग्नौ (जो देवता अग्नि में हैं) यः अप्सु (जो जल में हैं) यः विश्वं भुवनमाविवेश (जो विश्वभुवन को आवेष्टन किये हुए हैं) यः ओषधिषु यः वनस्पतिषु (जो ओषधि और

वनस्पति में विराजमान हैं) तस्मै देवाय नमः नमः (उन देवता को बारम्बार नमस्कार)।

ॐ या देवी सर्वभूतेषु, मातृरूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै, नमस्तस्यै नमो नमः ॥
ॐ या देवी सर्वभूतेषु, शक्तिरूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै, नमस्तस्यै नमो नमः ॥
ॐ या देवी सर्वभूतेषु, विद्यारूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै, नमस्तस्यै नमो नमः ॥
ॐ या देवी सर्वभूतेषु, कान्तिरूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै, नमस्तस्यै नमो नमः ॥
ॐ या देवी सर्वभूतेषु, शान्तिरूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै, नमस्तस्यै नमो नमः ॥१२८॥

या देवी सर्वभूतेषु (जो देवी सब भूतों में) मातृ, शक्ति, विद्या, कान्ति, शान्तिरूपेण संस्थिता (मातृ, शक्ति, विद्या, कान्ति, शान्तिरूप में विराजमान हैं) तस्यै नमः (उनको बार-बार नमस्कार करता हूँ)।

शरणागत-दीनार्त्त-परित्राण-परायणे ।
सर्वस्यार्तिहरे देवि नारायणि नमोऽस्तु ते ॥

(हे शरणागत–दीन–दुखी को परित्राण करने वाली, हे सर्व-जीव की दुखहारिणी, हे देवी नारायणी, तुमको नमस्कार करता हूँ)।

सर्वमंगलमांगल्ये शिवे सर्वार्थसाधिके।
शरण्ये त्र्यम्बके गौरि नारायणि नमोऽस्तु ते ॥

(हे सर्वमंगल तथा मंगल के उपाय-स्वरूपिणी, हे कल्याण-दात्री, हे सर्वार्थसाधिके, हे रक्षक, हे त्रिनयने, हे गौरी, हे नारा-यणी, तुमको नमस्कार हो)।

सर्वस्वरूपे सर्वेशे सर्वशक्तिसमन्विते।
भयेभ्यस्त्राहि नो देवि दुर्गे देवि नमोऽस्तु ते ॥

(हे विश्वरूपे, हे सर्वेश्वरी, हे सर्वशक्तिसम्पन्ने, हे देवी, सब प्रकार के भय से हमारी रक्षा करो। हे दुर्गे देवी तुमको नमस्कार हो)।

सर्वरूपमयी देवी, सर्वं देवीमयं जगत्।
अतोऽहं विश्वरूपां तां नमामि परमेश्वरीम् ॥१२६॥

(देवी सर्वरूपमयी हैं, समस्त जगत देवीमय है। अतएव मैं उन विश्वरूपा परमेश्वरी देवी को नमस्कार करता हूँ)।

(२४) अग्नि निर्वापण

अग्नि निर्वापण तत्त्व में अनुभव करना चाहिए कि अग्नि-देव ने आकर हमारी दुरवस्था देखी, हमारा सब निवेदन सुना। वे अवश्य हमारे सब अभाव दूर करेंगे और हमें शान्ति दान करेंगे। यह विश्वास जब दृढ़ हो गया तो पृथिवी के जीवों को कहा गया कि तुम लोग शान्ति से रहो—अब तुम लोगों को दुःख-शोक करने का कोई कारण नहीं।

पृथ्वि त्वं शीतला भव ॥१२७॥

—दही डाल कर अग्नि निर्वापण करो।

(हे पृथिवी, तुम शीतल हो जाओ)।

मालिन्यं सर्वजगतां नष्टं चित्तं च साम्प्रतम्।
भगवद्भावसंयुक्तं भाति शान्तो भवानल ॥१२८॥

साम्प्रतं सर्वजगतां मालिन्यं नष्टं (अब सब जगत की मलिनता नष्ट हो गयी) चित्तं च भगवद्भावसंयुक्तम् भाति (चित्त भगवद्भाव से परिभावित हो गया) अनल शान्तः भव (हे अग्नि, अब तुम शान्त हो जाओ)।

येनासि प्रार्थितोऽस्माभिः समाप्तं यज्ञकर्म तत्।
धन्याः स्मः कृतकृत्याः स्मो विज्ञाय विभवं तव ॥१२९॥

येन अस्माभिः प्रार्थितः असि (जिस निमित्त हमने तुम्हारा आवाहन किया था) तत् यज्ञकर्म समाप्तं (वह यज्ञकर्म तुम्हारी कृपा से सकुशल समाप्त हो गया) तव विभवं विज्ञाय (तुम्हारी विभूति उपलब्ध कर) धन्याः स्मः कृतकृत्याः स्मः (हम धन्य हो गये, कृतकृत्य हो गये—हमारा जीवन सफल हो गया)।

अग्ने त्वं समुद्रं गच्छ ॥१३०॥

(हे अग्नि, अब तुम कारण-सलिल रूप समुद्र में, अपने स्वधाम में जाकर निवास करो)।

—पानी डालकर अग्नि निर्वापण करो।

आशिषो नः प्रदीयन्तां याभिः स्मो वीरवत्तमाः।
प्रयाहि भास्वरं धाम द्योतमानं स्वतेजसा ॥१३१॥

नः आशिषः प्रदीयन्तां (हमको आशीर्वाद किये जाओ) याभिः वीरवत्तमाः स्मः (जिनसे हम वीरश्रेष्ठ हों) स्वतेजसा द्योतमानं (तुम अपने तेज से उद्भासित) भास्वरं धाम प्रयाहि (ज्योतिर्मय धाम को पधारो)।

(२५) शान्ति

शान्ति-मन्त्रों में दिखाया गया है कि हम किस प्रकार शान्ति से रह सकते हैं। हमारे मन में, परिवार में, समाज में,

यहाँ तक कि समस्त जगत में किस प्रकार शान्ति स्थापन की जा सकती है। सबकी शान्ति में ही हमारी शान्ति है—यह समझते हुए समष्टि की शान्ति के लिए यहां प्रार्थना की गयी है। हम किसी का दोष न देखें, सबको अपना मानते हुए सब की शान्ति के लिये चेष्टा करें, सबके सुख के लिये समवेतरूप से प्रार्थना करें।

इस शान्ति-स्थापन का प्रधान उपाय है—एकतास्थापन। सबको अपने समान देखना, अपना मानना, अपने आत्मा की विभूति समझना। सबके सुख में हमारा सुख है, सबके ऐश्वर्य में हमारा ऐश्वर्य, सबकी उन्नति में हमारी उन्नति, सबके कल्याण में हमारा कल्याण है—यह भाव बद्धमूल कराने की व्यवस्था की गयी है।

(बेल पत्र से शान्ति जल छिड़कते हुए ये मंत्र पाठ करें)

ॐ द्यौः शान्तिः, अन्तरिक्षं शान्तिः, पृथिवी शान्तिः, आपः शान्तिः, ओषधयः शान्तिः, वनस्पतयः शान्तिः, विश्वेदेवाः शान्तिः, ब्रह्म शान्तिः, सर्वं शान्तिः, सर्वरोग-शान्तिः, सर्वापच्छान्तिः, शान्तिरेव शान्तिः। सा मे शान्तिरेधि।

ॐ शान्तिः ॐ शान्तिः ॐ शान्तिः ॥१३२॥

(इसका अर्थ स्पष्ट है)

ॐ विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव,
यद् भद्रं तन्न आसुव ॥१३३॥

देव सवितः (हे सवितृदेव) विश्वानि दुरितानि परासुव (सब प्रकार के अशुभ–पाप हरण करो) यत् भद्रं (जो शुभ, कल्याणप्रद हो) नः तत् आसुव (वही हमारे पास आवे)।

ॐ भद्रं कर्णेभिः श्रुणयाम, भद्रं चक्षुभिरवलोकयाम।
भद्रं मनोभिश्चिन्तयाम, भद्रं बाहुभिः साधयाम ॥१३४॥

(हम कानों से मंगल वाणी सुनें, आँखों से मंगल दृश्य देखें, मन से शुभ-चिन्तन करें, हाथों से शुभ कर्म करें)।

सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु, सर्वे सन्तु निरमयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चित् दुःखमाप्नुयात्॥१३५॥

अत्र सर्वे सुखिनः सन्तु (इस जगत में सब सुखी हों) सर्वे निरामयाः सन्तु (सब निरामय हों) सर्वे भद्राणि पश्यन्तु (सब मंगलमय दृश्य देखें) कश्चित् दुखं मा आप्नुयात् (किसी को दुःख न प्राप्त हो)।

सर्वस्तरतु दुर्गाणि, सर्वो भद्राणि पश्यतु।
सर्वः सद्बुद्धिमाप्नोतु, सर्वः सर्वत्र नन्दतु ॥१३६॥

सर्वः तरतु दुर्गाणि (सब विपद से पार हो जाएँ) सर्वः भद्राणि पश्यतु (सब मंगल दर्शन करें) सर्वः सद्बुद्धिम् आप्नोतु (सबको सद्बुद्धि प्राप्त हो) सर्वः सर्वत्र नन्दतु (सब सर्वत्र आनन्द करें)।

दुर्जनः सज्जनो भूयात्, सज्जनः शान्तिमाप्नुयात् ।
शान्तो मुच्येत बन्धेभ्यो, मुक्तश्चान्यान् विमोचयेत् ।।१३७।।

दुर्जनः सज्जनो भूयात् (दुर्जन सज्जन हो जाय) सज्जनः शान्तिम् आप्नुयात् (सज्जन शान्ति लाभ करे) शान्तः बन्धेभ्यः मुच्येत (शान्त व्यक्ति बन्धन से मुक्त हो जाय) मुक्तः च अन्यान् विमोचयेत् (और मुक्त व्यक्ति दूसरों को बन्धनमुक्त करावें ।)

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां,
न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः ।
गो-ब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं,
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ।।१३८।।

स्वस्ति प्रजाभ्यः (प्रजागण का मंगल हो) महीशाः (राजा लोग) न्याय्येन मार्गेण (न्याय के मार्ग से) महीं परिपालयन्ताम् (पृथिवी का परिपालन करें) गो-ब्राह्मणेभ्यः नित्यं शुभम् अस्तु

(गो एवं ब्राह्मणों का नियत कल्याण हो) समस्ताः लोकाः सुखिनः भवन्तु (सब लोग सुखी रहें)।

काले वर्षतु पर्जन्यः, पृथिवी शस्यशालिनी ।
देशोऽयं क्षोभरहितो, ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥१३९॥

काले वर्षतु पर्जन्यः (यथासमय वर्षा हो) पृथिवी शस्य-शालिनी (पृथिवी खूब अन्न पैदा करे) अयं देशः क्षोभरहितः (हमारा यह देश क्षोभरहित हो अर्थात् दुःख-कष्ट-अशान्ति से दूर रहे) ब्राह्मणाः निर्भयाः सन्तु (ब्राह्मण लोग शँका शून्य हों)।

अपुत्राः पुत्रिणः सन्तु, पुत्रिणः सन्तु पौत्रिणः ।
अधनाः सधनाः सन्तु, जीवन्तु शरदां शतम् ॥१४०॥

(अपुत्र व्यक्ति पुत्र लाभ करे, पुत्रवान् को पौत्र हो, निर्धन व्यक्ति धन-लाभ करे और सब सौ वर्ष तक जीवित रहें)।

(२७) तिलक धारण

तिलक धारण करने का मतलब है प्रतिज्ञाबद्ध होना कि हम यज्ञ के सार तत्त्व को हृदय में धारण करके देखेंगे अर्थात् अपने जीवन को उसी आदर्श के अनुसार गठन करेंगे। तिलक लगाते समय आशीर्वाद किया जाता है कि ऋषियों के समान तुम आयु, ज्ञान, अनुभूति और शान्ति लाभ करो।

**ऋषीणां कश्यपादीनां यद् वै तेजः स्मृतिः धृतिः ।
सत्यस्य धारणी प्रज्ञा यदायुष्यं तदस्तु ते ॥१४१॥**

अर्थ—कश्यपादि ऋषियों की जैसी स्मृति, धृति, तेज, सत्य को धारण करने की प्रज्ञा एवं आयु थी तुम्हारी भी वैसी ही हो।

(हवनकुण्ड में से थोड़ी-सी भस्म निकालकर घी मिलाकर तिलक बना लो)।

ॐ कश्यपस्य त्र्यायुषम् ।...... माथे पर तिलक लगाओ।
ॐ जमदग्नेः त्र्यायुषम् ।...... कंठ में ,, ,, ।
ॐ यद् देवानां त्र्यायुषम् ।..... बाहु में ,, ,, ।
ॐ तत्तेऽस्तु त्र्यायुषम् ॥१४२॥ हृदय में ,, ,, ।

अर्थ—जैसे कश्यप ऋषि, जमदग्नि मुनि और देवताओं की तीन वयोवस्था थीं (बाल्य, कौमार एवं यौवन) तुम्हारी भी वैसी ही हों। अर्थात पूर्ण परिणति लाभ करो—अकाल मृत्यु न हो।

(२७) इड़ा और सोम भक्षण

इड़ा और सोम भक्षण से हम यज्ञेश्वर देवता का सादृश्य लाभ करने की योग्यता अर्जन करते हैं। इड़ा भक्षण से देवता के समान स्थूल शरीर और सोम भक्षण से देवता के समान

सूक्ष्म देह लाभ कर देवत्व में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। तब हमारे भीतर पूर्णता -समानता स्थापित हो जाती है। भगवान् ईसा का का वचन 'He that eateth my flesh and drinketh my blood dwelleth in me and I in him', यही रहस्य प्रकाश करता है।

ॐ अपाम सोममृता अभूम।
अगन्म ज्योतिरविदाम देवान् ॥१४३॥

सोमम् अपाम (सोम को पान कर सकूं) अमृता अभूम (सोम पान करके मृत्यु पर विजय प्राप्त करूंगा) ज्योतिः अगन्म (ज्योतिर्मय स्वर्ग को प्राप्त हो जाऊँ) देवान् अविदाम (दीप्यमान देवतत्त्व को मैंने जान लिया)।

ॐ संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥१४४॥

(तुम सब मिलके चलो; तुम्हारी वाणी एक प्रकार हो; तुम्हारे मन परस्पर एकमत हों; सब देवता लोग मिलके यज्ञभाग ग्रहण कर रहे हैं)।

समानो मंत्रः समितिः समानी।
समानं मनः सह चित्तमेषाम् ॥१४५॥

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।

समानमस्तु वो मनो यथा वः सुषहासति ॥१४६॥

(तुम्हारे मंत्रोच्चारण एक सुर में हो, तुम सब एक गोष्ठी में मिलके रहो, तुम्हारे मन-चित्त सब एक प्रकार हों। तुम्हारा उद्देश्य एक हो, अन्तःकरण एक हो, मन एक हो, तुम सम्पूर्णतः एकमत हो)।

॥ समाप्त ॥

हवने के लिये आवश्यक वस्तुएँ

(१) हवन वेदी या हवन कुण्ड—बालू, रूई।

(२) समिध (लकड़ी)—आम, बेल, गूलर, कठल, साल, देव-दार, पलाश, चन्दन आदि।

(३) हवन सामग्री--२०० त्रिबेल पत्र, पंचशस्य (चावल, जौ, पीली सरसों, मूंग और तिल); किशमिश, छुआरा आदि सूखा मेवा, चीनी, शहद, चन्दन का बुरादा, गूगल राल--इन चीजों को मिलाकर हवन सामग्री बना लेनी चाहिए; घी।

(४) अर्घ्य के लिये—फूल, चन्दन (लाल और सफेद) चावल जल, दूब घास, तुलसीदल, धूप, दीप, स्रुक् एवं जलहरी आदि हवनके पात्र।

(५) आरती के लिये—घी का दीपक, कपूर।

(६) यज्ञेश्वर के लिये—नैवेद्य, माला।

(७) पूर्णाहुति के लिये—एक पान, एक साबुत सुपारी, एक साबुत फल-केला, नारियल, प्रभृति।

(८) अग्निनिर्वापण के लिये—दही।

(९) प्रसाद।

'स्वाहा' मंत्र उच्चारण करके घी में डुबोकर बेल पत्र से एवं हवन सामग्री से आहुति देने का नियम है।